खण्ड 5

आस्तिक दर्शन

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खण्ड परिचय

आस्तिक दर्शन हैं; वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्व–मीमांसा, और उत्तर मीमांसा। आस्तिक दर्शन समान–तन्त्र की रचना करते हैं; न्याय–वैशेषिक, योग–सांख्य, मीमांसा–वेदान्त। कभी–कभी किसी दर्शन–प्रणाली के केवल एकमात्र संस्थापक या प्रवर्तक को बताना कठिन हो जाता है। किन्तु, अग्रलिखित व्यक्ति उपर्युक्त दर्शन प्रणालियों के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं; न्याय के गौतम, वैशेषिक के कणाद, योग के पतंजलि, सांख्य के कपिल, पूर्व–मीमांसा के जैमिनि और उत्तर–मीमांसा के बादरायण।

इकाई 18 न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के बारे में है। न्याय दर्शन यथार्थवादी दर्शन है जिसने तर्कशास्त्र (अनुमान) का विशद चर्चा की है। 'न्याय' पद का अनुवाद तर्कशास्त्र के नियम अथवा वैध तर्क के रूप में किया जाता है, इस तरह न्याय दर्शन के कार्यों (विषय–वस्तु) को तर्कशास्त्र के रूप में भी जानते हैं। इस इकाई में, आप नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित प्रमाण और उनके आत्म, मोक्ष (निःश्रेयस) एवं ईश्वर सम्बन्धी युक्तियों को जानेंगे। यह इकाई वैशेषिक दर्शन के पदार्थ, ज्ञानमीमांसा, ईश्वर, बन्धन, और मोक्ष सम्बन्धी युक्तियों की चर्चा भी करेगी। वैशेषिक दर्शन सांख्य से प्राचीन और जैन एवं बौद्ध दर्शन का समकालीन है। ऋषि कणाद इस दर्शन के संस्थापक हैं। लेकिन कुछ विद्वानों के अनुसार, इसके संस्थापक उलूक हैं।

इकाई 19, 'सांख्य–योग' सांख्य दर्शन के कारणता–सिद्धान्त (कारण–कार्य सिद्धान्त), पुरुष एवं प्रकृति के मध्य भेद, और प्रकृति के तीन गुण; *सत्त्व, रजस्* और *तमस्* का परिचय देती है। यह इकाई योग दर्शन के अनेक सिद्धान्तों की और योग के मनोवैज्ञानिक पक्ष की चर्चा भी करती है।

इकाई 20, 'मीमांसा' ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के विषयों की चर्चा करती है। इस इकाई में ख्यातिवाद और कारणता सिद्धान्तों की चर्चा भी की गई है। इसके साथ ही प्रमाण सम्बन्धी युक्तियों की विशद चर्चा की गई है।

इकाई 21 शंकराचार्य के अद्वैत, रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत और मध्वाचार्य के द्वैत वेदान्त दर्शन का वर्णन करती है। यह इकाई वेदान्त के इन तीन सम्प्रदायों की ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसीय पदार्थों और नीतिमीमांसा की व्याख्या और परीक्षा करती है।

इकाई 22 'शैव दर्शन और वैष्णव दर्शन' हिन्दू धर्म के दो प्राचीन सम्प्रदाय हैं, जो क्रमशः शिव और विष्णु को परम सत्ता मानते हैं। शैव एवं वैष्णव मत के अनेक उपसम्प्रदाय हैं। ये उप–सम्प्रदाय क्षेत्रीय और कालिक विभिन्नताओं एवं दर्शनों में भेद को दर्शाते हैं। वैष्णव मत की अन्य सम्प्रदायों से विशिष्टता विष्णु या उनके अवतारों, मुख्यतः राम और कृष्ण, की परम ईश्वर के रूप में आराधना है। यह मत अपनी भक्ति में एकेश्वरवाद को ध्वनित करता है।

इकाई 18 न्याय–वैशेषिक[18]

रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 परिचय

18.2 न्यायः ज्ञानमीमांसा

18.3 न्यायः कारणता–सिद्धान्त (असत्कार्यवाद)

18.4 न्यायः आत्मा एवं मोक्ष

18.5 न्यायः ईश्वर की अवधारणा

18.6 वैशेषिकः तत्त्वमीमांसा

18.7 वैशेषिकः ज्ञानमीमांसा

18.8 वैशेषिकः ईश्वर की अवधारणा

18.9 वैशेषिकः बन्धन एवं मोक्ष

18.10 सारांश

18.11 कुंजी शब्द

18.12 अन्य सहायक अध्ययन सामग्री एवं सन्दर्भ

18.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप समर्थ होंगे,

- प्रत्यक्ष के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या में, अनुमान की प्रकृति और विशेषताओं के वर्णन में,
- न्याय दर्शन की आत्मा की अवधारणा को दर्शाने में, न्याय दर्शन की मोक्ष की अवधारणा को जानने में,
- वैशेषिक की तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा की चर्चा में

18.1 परिचय

न्याय दर्शन की स्थापना गौतम ऋषि ने की थी। उन्हें 'अक्षपाद' नाम से भी जाना जाता है। न्याय से तात्पर्य है उचित तर्कों एवं वैध युक्तियों द्वारा किए जाने वाला विचार। इसलिए न्याय दर्शन तर्क शास्त्र (तर्क–विज्ञान), प्रमाणशास्त्र (ज्ञान मीमांसा एवं तर्क विज्ञान) हेतु

[18] डॉ. सत्य सुन्दर सेठी, सह आचार्य, मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान विभाग, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, मद्रास, अनुवाद– श्री दिलीप जायसवाल, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

विद्या (कारणों का विज्ञान), वादविद्या एवं आन्वीक्षिकी (आलोचना विज्ञान) के नाम से भी जाना जाता है। यथार्थवाद के प्रतिपादक के रूप में न्याय दर्शन वस्तु–जगत् के शुद्ध ज्ञान पर बल देता है।

वैशेषिक दर्शन 'सांख्य' की तुलना में नया एवं जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन के समकालीन है। 'कणाद' मुनि इस सम्प्रदाय के संस्थापक हैं किन्तु कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार, इसके प्रस्थापक 'उलूक' हैं। इस कारण इसे औलूक्य दर्शन भी कहते हैं। इस सम्प्रदाय का वैशेषिक नाम 'विशेष' नामक पदार्थ पर आधारित है जिसका आशय है नित्य द्रव्यों में निहित विशेष। वैशेषिक दर्शन में नित्य द्रव्य कुल पाँच माने गए हैं– आकाश, दिक, काल, आत्मा और मन।

न्याय दर्शन जिस प्रकार प्रमाण सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार वैशेषिक दर्शन तत्वमीमांसीय विषयों का अध्ययन करता है।

18.2 न्याय दर्शनः ज्ञानमीमांसा

न्याय–दर्शन आण्विक बहुलतावाद और तार्किक यथार्थवाद का समर्थक है। जिसके अनुसार अणु विश्व के पदार्थों का मूल घटक है तथा सत्ता एक नहीं है बल्कि असंख्य जड़ एवं चेतन सत्ताएं हैं – जिनसे मिलकर यह विश्व निर्मित हुआ है। अपने बहुलतत्ववाद के अनुरूप यह भौतिकवादी एवं आत्मवादी एकतत्ववाद का खण्डन करता है। इसका तार्किक यथार्थवाद इस सिद्धान्त पर टिका हुआ है कि हमारी इन्द्रिय–संवेदन एवं ज्ञान से निरपेक्ष इस विश्व की स्वतन्त्र अस्तित्व की प्रामाणिकता का आधार आस्था अथवा अन्तर्प्रज्ञा न होकर तर्क/तार्किक युक्तियां एवं अनुभव–जगत् का सम्यक्/आलोचनात्मक परीक्षण है।

न्याय दर्शन द्वारा सोलह पदार्थ स्वीकार किए गए हैं जिसमें से प्रथम 'प्रमाण' नामक पदार्थ से न्याय दर्शन के तार्किक एवं ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण का पता चलता है। इसके अनुसार कुल चार प्रमाण (शुद्ध ज्ञान के साधन) हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

नैयायिकों ने इन्द्रिय–संज्ञान, अवबोध, चेतना अथवा वस्तुओं के प्रकाशित होने को ही ज्ञान के रूप में व्याख्यायित किया है। ज्ञान आत्मनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ दोनों ही प्रकार का होता है। आत्मनिष्ठ ज्ञान वस्तुनिष्ठ ज्ञान से भिन्न होता है। यदि भिन्न–भिन्न व्यक्ति किसी विशेष वस्तु अथवा तथ्य के विषय में भिन्न–भिन्न राय दें, तो इस प्रकार का ज्ञान आत्मनिष्ठ ज्ञान कहा जायेगा। उदाहरण के लिए सड़क–दुर्घटना होने पर यदि हम घटना–स्थल पर उपस्थित लोगों से पूछें तो हमें दुर्घटना के विषय में उनके द्वारा भिन्न–भिन्न विवरण प्राप्त होंगे। दुर्घटना के सम्बन्ध में इसे आत्मनिष्ठ ज्ञान कहा जायेगा।

दूसरी ओर, यदि किसी वस्तु के विषय में अधिकांश लोगों की राय एक जैसी हो तो वस्तु का यह ज्ञान वस्तुनिष्ठ ज्ञान कहलायेगा। जैसे इस विषय में सभी एकमत होंगे कि सेब एक फल है और इसे खाया जा सकता है। इस प्रकार किसी भी प्रकार का ज्ञान वस्तुओं के स्वरूप को प्रकाशित करता है अथवा अभिव्यक्त करता है। जिस प्रकार एक ट्यूब लाइट किसी कमरे में मौजूद सभी चीजों को प्रकाश में लाती है, उसी प्रकार ज्ञान अपने आस–पास की वस्तुओं को प्रकाशित करता है। यथार्थवाद का समर्थक होने से न्याय दर्शन यह मानता है कि ज्ञान का सम्बन्ध सदैव वस्तुओं से होता है।

ज्ञान यथार्थ अथवा अयथार्थ हो सकता है। यथार्थ ज्ञान को प्रमा और अयथार्थ ज्ञान को अप्रमा कहते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार, यथार्थ ज्ञान अर्थात प्रमा वस्तु का सत्य एवं समुचित बोध है। यह वस्तु जैसी है, उसे उसी प्रकार प्रकाशित करना है। शुद्ध ज्ञान की यह विशेषता सत्य के संवादिता सिद्धान्त का परिणाम है जिसके अनुसार सत्य सत्ता एवं विज्ञप्ति के मध्य संवाद है। इस प्रकार शुद्ध ज्ञान संप्रतितात्मक (**presentative**) ज्ञान होता है। संप्रतितात्मक ज्ञान तब होता है जब ज्ञेय वस्तु ज्ञाता के समक्ष प्रस्तुत हो। जैसे डॉ. विप्लव द्वारा अपनी शर्ट के जेब में कलम को देखना संप्रतितात्मक ज्ञान का उदाहरण है। प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति चार प्रकार के यथार्थ ज्ञान के साधनों अर्थात प्रमाणों से होती है– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। अयथार्थ ज्ञान अर्थात् अप्रमा वस्तु की अयथार्थ प्रतीति अथवा बोध है। इसके अन्तर्गत् स्मृति, संशय, विपर्यय एवं तर्क आते हैं। स्मृति संप्रतितात्मक नहीं होती, बल्कि प्रतिनिध्यात्मक ज्ञान होती है। स्मृति यथार्थ ज्ञान का साधन भी माना जा सकता है, यदि जो भी स्मर्यमाण (याद में हो) उसका भूतकाल में संप्रतितात्मक ज्ञान हुआ हो। वस्तु के स्वरूप का निश्चय न हो पाना संषय कहलाता है। विपर्यय वस्तु की मिथ्या प्रतीति है जैसे भ्रम के कारण रस्सी को साँप समझ लिया जाना। तर्क भी एक अयथार्थ ज्ञान है क्योंकि यह किसी नयीन ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता है। क्योंकि यह पहले से ज्ञात वस्तु की ही संपुष्टि करता है। इस प्रकार यह प्रकृति में संप्रतितात्मक होता है।

अब हम नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित चार प्रमाणों की चर्चा करेंगे।

प्रत्यक्ष

नैयायिकों के अनुसार, प्रत्यक्ष ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क में आने वाली वस्तु का तात्कालिक एवं साक्षात ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए चार बातों का होना आवश्यक है – आत्मा, मन, ज्ञानेन्द्रिय एवं वस्तु। आत्मा मन के सम्पर्क में आती है, मन इन्द्रियों के सम्पर्क में आता है और पुनः इन्द्रियां वस्तुओं के सम्पर्क में आती हैं और इस प्रकार हमें वस्तुओं का ज्ञान होता है।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है–लौकिक एवं अलौकिक। लौकिक प्रत्यक्ष को पुनः दो प्रकारों में विभाजित किया गया है– बाह्य एवं आन्तर (मानस)। बाह्य प्रत्यक्ष पाँच ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध होने से पाँच प्रकार का होता है– श्रोतज, चाक्षुषज, रसज, घ्राणज एवं स्पर्शन। आन्तर प्रत्यक्ष की दशा में कोई मानसिक वस्तु मन के संपर्क में आती है और परिणामस्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। अनुभूति, इच्छा, कामना आदि आन्तर प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं।

प्रत्यक्ष को पुनः तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है– निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, सविकल्पक प्रत्यक्ष और प्रतिभिज्ञा। ये विभाजन विचार में (सिद्धान्ततः) हैं न कि अनुभव में। आइए अब निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की चर्चा करें।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्पक कहलाता है जब ज्ञेय वस्तु के गुण–धर्मों जैसे रूप, आकृति आदि का निर्धारण न हो सके। ऐसी स्थिति में किसी वस्तु के इन्द्रिय सन्निकर्ष से ज्ञान तत्काल उत्पन्न होता है। नैयायिकों ने ऐसे ज्ञान को 'अव्यक्त' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि इस ज्ञान का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, हम इस ज्ञान को सुनिश्चित एवं स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार का ज्ञान तब होता है जब ज्ञाता को नाम रूप आदि लक्षणों से रहित वस्तु की केवल प्रतीति मात्र होती

है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष का अपूर्णरूप होता है। इसका अस्तित्व केवल अनुमान के माध्यम से सिद्ध होता है, न कि प्रत्यक्ष के द्वारा।

सविकल्पक प्रत्यक्ष

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से भिन्न सविकल्पक प्रत्यक्ष तब होता है जब किसी वस्तु का ज्ञान नाम, रंग, आकार आदि गुणों के सहित होता है। यह वस्तु का स्पष्ट ज्ञान कराता है, जिसके परिणामस्वरूप 'यह वृक्ष है, 'यह मनुष्य है' आदि प्रकार का ज्ञान होता है। इस स्थिति में ज्ञाता वस्तु को यथार्थरूप में जानता और पहचानता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष

अब हम अपनी चर्चा का ध्यान अलौकिक प्रत्यक्ष पर केन्द्रित करते हैं। अलौकिक प्रत्यक्ष ऐसा प्रत्यक्ष है जो इन्द्रिय और वस्तु के सम्पर्क के बिना भी ज्ञान प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार के प्रत्यक्ष में इन्द्रियों एवं वस्तु के बीच सम्पर्क असाधारण प्रकार का होता है।

न्याय दर्शन तीन प्रकार के अलौकिक प्रत्यक्ष मानता है–

अ) सामान्य लक्षण

ब) ज्ञान लक्षण

स) योगज

सामान्य लक्षण

सामान्य लक्षण के अन्तर्गत् हम 'सामान्यों' का प्रत्यक्ष करते हैं। न्याय दर्शन 'सामान्य' को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानता है। 'सामान्य' किसी वर्ग के सभी 'विशेषों' में अन्तर्निहित रहता है। उदाहरण के लिए, हम मुर्गी मुर्गी है क्योंकि मुर्गी में सामान्य 'मुर्गीपन' अन्तर्निहित होता है। हम मनुष्य को मनुष्य इसलिए कहते और समझते हैं क्योंकि मनुष्य में मनुष्यत्व नामक सामान्यगुण पाया जाता है। यह मनुष्यत्व (सामान्य) दूसरे मनुष्यों में भी समान रूप से पाया जाता है।

दैनन्दिन जीवन में हम केवल विशेषओं जैसे मेज, गाय, कलम आदि का प्रत्यक्ष करते हैं। इस प्रकार, यह स्वीकारा जाता है कि जब हम विशेषों का प्रत्यक्ष करते हैं तब सर्वप्रथम हम इन विशेषों में अन्तर्निहित सामान्यों का प्रत्यक्ष करते हैं। जब हम किसी विशिष्ट वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं, तब हम सर्वप्रथम उसमें समवेत सामान्य का प्रत्यक्ष करते हैं। इस प्रकार के प्रत्यक्ष को नैयायिकों द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष माना जाता है।

ज्ञान लक्षण

ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष जटिल साहचर्य के माध्यम से प्रत्यक्ष है। इसमें कोई वस्तु इन्द्रिय के समक्ष साक्षात प्रस्तुत नहीं होती, अपितु भूतकाल की इसकी संज्ञा के द्वारा स्मृति में उपलब्ध होती है और प्रतिनिध्यात्मक तरीके से प्रत्यक्ष की जाती है। जिसके द्वारा इन्द्रिय अपने विषय से भिन्न विषय का ज्ञान भी ग्रहण करती है। जैसे बर्फ को देखने पर शीतलता का अनुभव होना, आग को देखकर ताप का अनुभव होना। जैसे किसी ने यदि अतीत में बर्फ की रूपाकृति एवं शीतल स्पर्श का अनुभव किया है, यहाँ रूप एवं स्पर्श के अव्यभिचारित साहचर्य (**invariable association**) के कारण व्यक्ति को बर्फ के चाक्षुष प्रत्यक्ष के क्षण में शीतलता का भी प्रत्यक्ष होने लगता है। इस प्रकार बर्फ को देखने पर शीतलता का अनुभव होता है।

योगज

योगज प्रत्यक्ष ऐसा अलौकिक प्रत्यक्ष है जो अतिप्राकृतिक शक्तियों से सम्पन्न योगियों में संभव होता है। योगी अपने ध्यान की शक्ति के द्वारा भूत, भविष्य एवं वर्तमान की सभी वस्तुओं का साक्षात् प्रत्यक्ष कर सकता है।

निम्नरेखित आरेख न्याय दर्शन के प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रकारों को दर्शाता है,

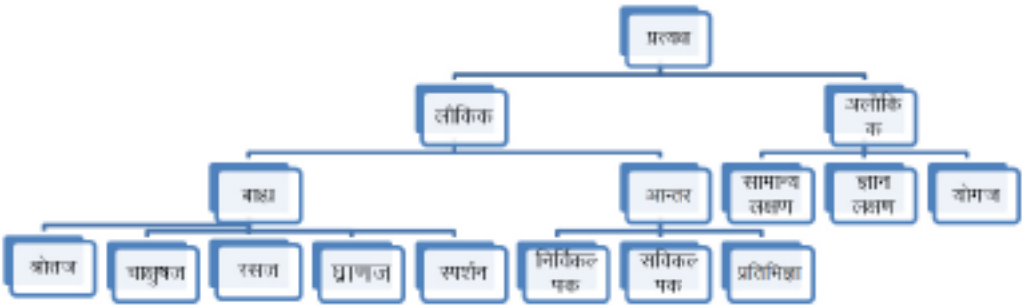

अनुमान

अनुमान न्याय–दर्शन द्वारा मान्य दूसरा महत्वपूर्ण प्रमाण है। अनुमान दो शब्दों से मिलकर बना हुआ है– 'अनु' और 'मान'। 'अनु' का अर्थ है 'पश्चात्' और 'मान' का अर्थ है 'ज्ञान'। इस प्रकार, अनुमान का शाब्दिक अर्थ हुआ – पश्चात् ज्ञान। दूसरे शब्दों में, अनुमान एक ऐसा ज्ञान है जो किसी पूर्व ज्ञान पर आधारित होता है।

अनुमान के घटक

कोई भी अनुमान कम से कम तीन वाक्यों से मिलकर बना होता है। ये तीन वाक्य पुनः तीन पदों; वृहद पद, लघु पद एवं निष्कर्ष से निर्मित होते हैं।

इन तीनों पदों युक्त वाक्य वृहद वाक्य, लघु वाक्य एवं निष्कर्ष वाक्य कहलाते हैं। जो अवयव वृहत् पद और लघुपद दोनों में पाया जाता है उसे मध्यवर्ती पद (Middle term) कहा जाता है। निष्कर्ष में केवल वृहत् पद एवं लघुपद पाया जाता है। यह मध्यवर्ती पद वृहत् पद और लघु पद को जोड़ता है। वृहत् पद लघु पद और मध्यवर्ती पद को ही न्याय दर्शन में 'साध्य', 'पक्ष' एवं 'हेतु' कहा जाता है।

एक उदाहरण के द्वारा इसे समझा जा सकता है–

वृहत् वाक्य – जहाँ–जहाँ धुआँ है, वहाँ–वहाँ आग है।

लघु वाक्य – इस पर्वत पर धुआँ है।

निष्कर्ष – इस पर्वत पर आग है।

यहाँ 'धुआँ' मध्यवर्ती पद है, 'आग' वृहत् पद और 'पर्वत' लघु पद है। किसी भी अनुमान में हेतु और साध्य के बीच 'व्याप्ति' सम्बन्ध पाया जाना चाहिए। व्याप्ति किसी भी अनुमान प्रक्रिया के मध्यर्ती पद और वृहत् पद के बीच पाया जाने वाला अव्यभिचारित, उपाधिरहित और सार्वभौम एवं अनिवार्य सम्बन्ध होता है।

अनुमान की प्रक्रिया में किसी पूर्व ज्ञान के चिन्ह अथवा पहचान/संकेत (लिंग) के आधार पर किसी वस्तु का ज्ञान किया जाता है। यह पूर्व ज्ञान मध्यवर्ती पद और वृहत् पद के बीच पाये जाने वाले अनिवार्य साहचर्य पर टिका होता है, जो कि लघु पद में घटित होता है।

उपरोक्त उदाहरण में यह कहा गया कि किसी व्यक्ति ने किसी पर्वत पर दूर से धुआँ उठते हुए देखा। धुएं को देखकर वह इसे अपने पूर्व ज्ञान से जोड़ता है कि जहाँ–जहाँ धुआं होता है, वहाँ–वहाँ आग होती है; जैसे– रसोईघर, लालटेन आदि में, जोकि एक अनिवार्य सत्य है। इस प्रकार व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुंचता है, चूंकि पर्वत पर धुआं है इसलिए पर्वत पर आग है।

अब हम किसी अनुमान की प्रक्रिया में वृहत् पद (साध्य), लघु पर (पक्ष) एवं मध्यवर्ती पद (हेतु) के महत्व को समझने का प्रयास करते हैं।

वृहत् पद (साध्य)

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित तर्कशास्त्र का 'वृहत् पद' और न्याय –दर्शन का 'साध्य' एक समान है। साध्य ही अनुमान का विषय होता है जिसे सिद्ध करना होता है। साध्य का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता इसका ज्ञान हमें अनुमान के द्वारा होता है। उपरोक्त उदाहरण में 'आग' 'साध्य' है।

लघु पद (पक्ष)

पाश्चात्य तर्कशास्त्र का 'लघुपद' और न्याय का 'पक्ष' समान हैं। पक्ष का हमें प्रत्यक्ष होता है, इसका हमें अनुमान नहीं करना होता है। पक्ष ही वह अधिष्ठान है जहाँ हम किसी विषय को सिद्ध करते हैं। इस विषय का साक्षात ज्ञान नहीं बल्कि परोक्ष ज्ञान होता है, जो अनुमान के द्वारा संभव हो पाता है। उपरोक्त उदाहरण में पर्वत 'पक्ष' है।

मध्यवर्ती पद (हेतु)

'हेतु' से तात्पर्य पाश्चात्य तर्कशास्त्र के मध्यवर्ती पद से है। इसे 'लिंग' (चिह्न) भी कहते हैं। सर्वप्रथम हेतु का सम्बन्ध साध्य से पाया जाता है और पुनः पक्ष से पाया जाता है। इस प्रकार, हेतु निष्कर्ष में 'पक्ष में साध्य' की सिद्धि को सम्भव बनाता है। उपरोक्त अनुमान की युक्ति में धुआं हेतु है।

अनुमान के प्रकार

अनुमान दो प्रकार के होते हैं।

1) स्वार्थानुमान

2) परार्थानुमान

प्रथम प्रकार का अनुमान स्वय अनुमानकर्ता के लिए होता है। वहीं दूसरे प्रकार का अनुमान दूसरों के लिए होता है। पहली स्थिति में तर्क प्रक्रिया को विभिन्न चरणों में व्यवस्थित करना आवश्यक नहीं होता क्योंकि यहाँ अनुमान व्यक्ति को स्वयं करना होता है। वहीं परार्थानुमान में यह आवश्यक हो जाता है। तर्कवाक्यों को सही एवं व्यवस्थित क्रम में रखने से ही किसी दूसरे को समूची अनुमान प्रक्रिया से परिचित कराया जा सकता है।

न्याय दर्शन के अनुसार परार्थानुमान के कुल पाँच अवयव होते हैं–

1) इस पर्वत पर आग है। (प्रतिज्ञा)

2) क्योंकि यहाँ धुआं है। (हेतु)

3) जहां–जहां धुआं रहता है, वहां–वहां आग रहती है, जैसे रसोईघर (उदाहरण)

4) पर्वत पर धुआं है। (उपनय)

5) इसलिए पर्वत पर आग है। (निगमन)

इस पूरी अनुमान प्रक्रिया में मध्यवर्ती पद तीन बार आता है, इसलिए यह 'त्रिलिंग परामर्श' के तौर पर भी जाना जाता है। इस अनुमान में यदि हम पहले दो न्यायवाक्यों अथवा अन्तिम दो न्यायवाक्यों को हटा दें तो अनुमान अवैध हो जायेगा। इसलिए अनुमान के लिए कम से कम ऐसे तीन न्याय वाक्य आवश्यक हैं जिनमें अनुमान के तीन पदों का समावेश हो।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. अनुमान की प्रक्रिया में हेतु की भूमिका पर प्रकाश डालें।

.....

.....

.....

.....

.....

उपमान

उपमान न्याय दर्शन का तीसरा प्रमाण है। 'उपमान' दो शब्दों से मिलकर बना हुआ है– 'उप और 'मान'। उप का अर्थ है सादृश्य और 'मान' का अर्थ है 'ज्ञान'। इस प्रकार उपमान दो वस्तुओं के बीच सादृश्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है। उपमान प्रमाण संज्ञा (नाम) और संज्ञी (नामधारी वस्तु) के बीच सम्बन्ध का परिणाम है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति जो यह नहीं जानता है कि गिलहरी कैसी होती है। किसी वनवासी के द्वारा उसे यह बताया जाता है कि गिलहरी चूहे की भांति एक छोटा जानवर होता है जिसकी लम्बी रोंयेंदार पूंछ और शरीर पर धारियां होती हैं। कुछ समय बाद जंगल में ऐसे किसी जन्तु को देखकर यह जान जाता है कि यह गिलहरी है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध दर्शन उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करता। उनके अनुसार उपमान प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण के अन्तर्गत् आ जाता है। सांख्य और वैशेषिक दर्शन के अनुसार उपमान अनुमान के अन्तर्गत् आ जाता है।

शब्द प्रमाण

शब्द न्याय–दर्शन का चौथा एवं अन्तिम प्रमाण है। शब्द का अर्थ है– शाब्दिक ज्ञान। यह शब्द अथवा वाक्य के द्वारा होने वाला वस्तु का ज्ञान है। समस्त शाब्दिक ज्ञान यथार्थ नहीं हो सकता। इसलिए नैयायिकों ने प्रामाणिक आप्त वचनों को शब्द माना है।

शब्द किसी आप्त पुरुष का विश्वसनीय आप्त वचन है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आप्त पुरुष कौन? आप्त पुरुष ऋषि, म्लेच्छ, आर्य कोई भी हो सकता है जो किसी मामले/विधा में विशेषज्ञ हो और उस विशेष विधा में अपने अनुभव को कहता है।

शब्द के प्रकार

अ) 1) दृष्टार्थ

2) अदृष्टार्थ

ब) 1) लौकिक

2) अलौकिक

पहले वर्गीकरण का आधार वस्तुओं का अर्थ है और दूसरे वर्गीकरण का आधार शब्दों की उत्पत्ति है। इन्द्रियगोचर (**perceptible**) वस्तुओं से सम्बद्ध शब्द दृष्टार्थ कहलाते हैं जैसे 'मेज भूरी है', 'कौआ काला है', इत्यादि। जिस शब्द का सम्बन्ध इन्द्रियातीत वस्तु से होता है उसे 'अदृष्ट' कहते हैं जैसे 'कर्त्तव्य ईश्वर है', 'सत्य सदगुण है' इत्यादि।

लौकिक शब्द जीवन–सामान्य से जुड़े शब्द हैं। अलौकिक शब्द को दैवीय अथवा वैदिक शब्द भी कहा गया है। वेद ईश्वरीय वाणी है वैदिक प्रमाण को पूर्ण एवं दिव्य माना गया है। नैयायिकों के अनुसार मनुष्य पूर्ण नहीं है और केवल विश्वसनीय आप्त पुरूषों के वचन को ही लौकिक शब्द स्वीकारा जा सकता है।

18.3 न्यायः कारणता–सिद्धान्त (असत्कार्यवाद)

कारणता–सिद्धान्त न्याय दर्शन का एक महत्वपूर्ण भाग है। न्याय के कारणता सिद्धान्त की चर्चा करने से पहले यह समझ लेना ठीक होगा कि 'कारणता' क्या है?

कारणता सिद्धान्त के दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं–'कार्य' एवं 'कारण'। कारण किसी कार्य का अनौपाधिक (**Unconditional**) और नियत (**Invariable**) पूर्ववर्ती होता है, इसी प्रकार कार्य कारण का अनौपधिक और नियत परिणाम होता है।

न्याय के कारणता–सिद्धान्त को असत्कार्यवाद अथवा आरम्भवाद कहा जाता है। उनका मानना है कि कार्य कारण द्वारा उत्पन्न होता है किन्तु कार्य एवं कारण एक नहीं होते हैं। कार्य एक नवीन उत्पत्ति है जो कारण में पहले से विद्यमान नहीं था। जैसे घड़ा मिट्टी का बना होता है, मिट्टी कारण है और घड़ा कार्य है। नैयायिकों के अनुसार घड़ा एक नवीन उत्पत्ति है जो मिट्टी में पहले से विद्यमान नहीं था। इस प्रकार नैयायिक असत्कार्यवाद के समर्थक हैं।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. असत्कार्यवाद क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

18.4 न्यायः आत्म एवं मोक्ष

नैयायिक जगत् में असंख्य जीवात्माओं की सत्ता को स्वीकार करते हैं। आत्माएं सुख–दुःखादि गुणों से युक्त हैं। इन्हें नित्य एवं विभु (सर्वव्यापक) माना गया है। न्याय के अनुसार, आमा का तादात्म्य न मन से और न ही शुद्ध चेतना से स्थापित किया जा सकता है परन्तु इसे किसी व्यक्ति विशेष की चेतना रूप में समझा जाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि मन अणु रूप है और अदृश्य होने से सभी दृश्यमान गुणों से रिक्त है। दूसरी ओर चेतना विशेष आत्मा से जुड़ी होती है किन्तु यह स्वयं आत्मा नहीं है। अतः चेतना आत्मा नहीं है बल्कि चेतना का एक गुण है। चेतना आत्मा का आगुन्तक गुण है। आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में चेतना से शून्य है इसलिए आत्मा किसी प्रकार के संज्ञान एवं ज्ञान से भी रहित है। इन्द्रियों से संयुक्त होने पर ही आत्मा चेतना को धारण करती है।

आत्मा 'अहं' ज्ञाता के रूप में जाना जाता है, और इसका ज्ञान आन्तर प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। जीव अज्ञानता के कारण बन्धन ग्रस्त होकर मुक्ति की इच्छा रखता है। मोक्ष उन समस्त दुःखों एवं बन्धनों से मुक्ति का नाम है जो आत्मा का शरीर एवं इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होते हैं। नैयायिक मानते हैं कि साहचर्य और मोह दुःख का कारण हैं। जब तक आत्मा का शरीर और इन्द्रिय के साथ संयोग रहता है तब तक जन्म और मृत्यु का चक्र चलता है। नैयायिक कर्म–सिद्धान्त में भी विश्वास करते हैं। न्याय–दर्शन के अनुसार, कर्मचक्र या कर्म प्रवाह के रुक जाने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है। इस अवस्था में आत्मा शरीर और इन्द्रियों से अलग हो जाती है।

18.5 न्यायः ईश्वर की अवधारणा

न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर विश्व का सृष्टा, पालक एवं विनाशक है। यह विश्व का निमित्त कारण है और उपादान कारण नहीं है। विश्व का उपादान कारण पृथिवी, जल, वायु, अग्नि आदि के नित्य परमाणु हैं। ईश्वर ही इन परमाणुओं में गति संचालित करता है, यह विश्व की विभिन्न वस्तुओं को स्थिर बनाए रखने में सहायक होता है। उसे सभी वस्तुओं एवं घटनाओं का वास्तविक ज्ञान है। इस प्रकार ईश्वर और सर्वज्ञ स्वीकारा जाता है।

18.6 वैशेषिकः तत्त्वमीमांसा

वैशेषिक तत्त्वमीमांसा बहुतत्ववादी है, क्योंकि इसके अनुसार विविधता, विभिन्नता एवं बहुलता वास्तविकता का सार है। 'विशेषों' की सत्ता को इसलिए भी वास्तविक माना जाता है क्योंकि इनकी सत्ता के लिए हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। विश्व या वस्तु ज्ञेय (जानने योग्य या जिसे जाना जा सके), अभिधेय (नाम देने योग्य या जिसका नाम दिया जा सके), सत् है। इस प्रकार वैशेषिक तत्त्वमीमांसा को बहुतत्ववादी यथार्थवाद कहा जाता है। यह भौतिकवादी बहुतत्ववादी नहीं है। क्योंकि इसमें केवल भौतिक पदार्थ सम्मिलित न होकर आत्मा मनादि अभौतिक पदार्थ भी सम्मिलित हैं।

वैशेषिक सम्मत 'पदार्थ' का शाब्दिक अर्थ है, 'पद का अर्थ' अथवा 'किसी शब्द द्वारा अभिहित वस्तु'। यह (पदार्थ) ज्ञेय अर्थात ज्ञान का विषय एवं अभिधेय अर्थात् भाषा में कहे जाने योग्य है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार, यथार्थ ज्ञान की समस्त वस्तुएं सात पदार्थों के अन्तर्गत् आती हैं, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव।

इनमें से प्रथम 6 पदार्थों का उल्लेख कणाद ने किया है एवं अन्तिम 'अभाव' नामक पदार्थ बाद में भाष्यकारों के द्वारा जोड़ा गया है। 'अभाव' को छोड़कर अन्य सभी पदार्थ अस्तित्व वाले, भाववाची हैं और सत् में सम्मिलित हैं। इन पदार्थों की प्रकृति के सम्बन्ध में आगे विस्तार से बताया जा रहा है।

18.6.1 द्रव्य

वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य वह सत्ता है जिसमें गुण एवं कर्म रहते हैं। यह किसी कार्य का समवायि अथवा उपादन कारण होता है। द्रव्य में इसकी जाति द्रव्यत्व समवाय सम्बन्ध से रहती है। यह केवल गुण एवं कर्मों का जोड़मान (योग) नहीं है, बल्कि इसकी वास्तविक एवं वस्तुनिष्ठ सत्ता है। द्रव्य गुण एवं कर्म से भिन्न है। क्योंकि यह उनका आश्रय है। गुण एवं कर्म द्रव्य में समवायित रहते हैं। द्रव्य आधार भूत आश्रय है। गुण एवं कर्म द्रव्य से पृथक किये जा सकते हैं क्योंकि ये द्रव्य पर आश्रित होते हैं।

द्रव्य अपने कार्यों का उपादान कारण होता है। इससे स्पष्ट होता है कि द्रव्य का गुण एवं कर्म से स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। गुण और कर्म इस भाव में द्रव्य के असमवायि कारण कहे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, धागों का हरा रंग, जो कि एक गुण है, कपड़े का असमवायिकारण है। इस प्रकार कर्म जैसे कि कलम का पकड़ना भी असमवायिकारण होता है। अंगुलियों और कलम के बीच का संयोग सम्बन्ध अस्थायी होता है तथा संयोग समाप्त होने पर कलम और अंगुलियों के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आता, किन्तु यह द्रव्य की स्थिति में संभव नहीं है। इसलिए द्रव्य किसी कार्य का समवायि कारण होता है। जैसे कपड़ा धागों से मिलकर बना होता है। बिना धागों के कपड़े का अस्तित्व संभव नहीं है। इस प्रकार धागे कपड़े का समवायिकारण हैं ये मूलभूत सामग्री हैं जिनसे कपड़े का निर्माण होता है। इस प्रकार द्रव्य किसी कार्य का समवायिकारण होता है और गुण एवं कर्म असमवायिकारण होते हैं।

वैशेषिक दर्शन का यह मानना है कि उत्पत्ति के प्रथम क्षण में द्रव्य में गुणों का अभाव होता है। परवर्ती क्षण में ही द्रव्य गुणों का धारण करता है। द्रव्य दो प्रकार के होते हैं, नित्य एवं अनित्य। अनित्य द्रव्य हैं,

1) पृथिवी,
2) जल,
3) तेज, एवं
4) वायु,

नित्य द्रव्य हैं,

1) दिक,
2) काल,
3) आत्मा, और
4) मन

इसके अतिरिक्त, वैशेषिकों ने आकाश तत्व की सत्ता स्वीकार की है। इस प्रकार वैशेषिकों द्वारा कुल नौ द्रव्य माने गए हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत कहलाते हैं। इन सभी द्रव्यों में से प्रत्येक में एक विशिष्ट गुण होता है, जिसका ग्रहण हम किसी एक इन्द्रिय से करते हैं। जैसे पृथिवी में गन्ध, जल में रस, तेज (अग्नि) में रूप, वायु में स्पर्श तथा आकाश में पाये जाना वाला गुण शब्द। ये गुण क्रमशः नाक, जीभ, आंख, त्वचा एवं कानों से ग्रहण किए जाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन इन्द्रियों की उत्पत्ति पृथिवी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश से हुई है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार जो कुछ भी यौगिक होने से अवयवयुक्त एवं विभाज्य है, वह नित्य नहीं हो सकता। दूसरी ओर, सरल एवं अविभाज्य तत्वों को नित्य माना गया है। इसी आधार पर वैशेषिक अनित्य द्रव्यों को नित्य द्रव्यों से अलग करते हैं। इस विभेद से पता चलता है कि वैशेषिक दर्शन एक प्रकार के सत्तामीमांसीय द्वैतवाद का समथर्क है। ऐसा इसलिए है क्योंकि यह आत्मा एवं भौतिक तत्व दोनों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है।

18.6.2 गुण

वैशेषिक दर्शन के अनुसार गुण द्रव्य पर आश्रित होते हैं और गुण में गुण नहीं होते हैं। गुणों का द्रव्य से प्रथम अस्तित्व सम्बन्ध नहीं हो सकता। गुण केवल द्रव्य से ही सम्बन्धित हो सकते हैं न किसी अन्य गुण या धर्म से। गुण पूर्णतः निष्क्रिय होते हैं और किसी अन्य विषय को उत्पन्न नहीं करते हैं।

गुण में गुण नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए, रंग द्रव्य का गुण होता है। यह अपनी गन्ध, स्वाद और अन्य गुणों का गुण नहीं होता है। अतः गुण में और कोई गुण नहीं होते हैं। गुण में कर्म भी नहीं होते हैं। कर्म का आश्रय भी द्रव्य ही होता है। द्रव्य के गुण में कार्य क्षमता नहीं होती है। उदाहरण के लिए, चिड़िया उड़ रही है। यहाँ गति के रूप में उड़ान चिड़िया (द्रव्य) का कर्म है न कि चिड़िया में पंखों में रंग का। अतः रंग से गति नहीं आती है। अर्थात् गुण में कर्म नहीं होते हैं। इस सबके माध्यम से वैशेषिक दर्शन स्पष्ट करना चाहता है कि गुण द्रव्य या समवायी कारण नहीं है। क्योंकि उत्पत्ति के प्रथम क्षण में द्रव्य गुण के बिना अस्तित्वमान होता है। इसलिये गुण इसमें बाद में आते हैं।

गुण भौतिक या फिर मानसिक हो सकते हैं और अनिवार्य रूप से विभू/नित्य नहीं होते हैं। वैशेषिक दर्शन चौबीस गुणों को स्वीकारता है। ये हैं, 1) रंग, 2) रस, 3) गन्ध, 4) स्पर्श, 5) शब्द, 6) संख्या, 7) परिणाम, 8) विशिष्टता, 9) संयोग, 10) विभाग, 11) समीपता/समीपस्थ, 12) दूरस्थ, 13) संज्ञा, 14) सुख, 15) दुःख, 16) इच्छा, 17) घृणा , 18) प्रयत्न, 19) भारीपन, 20) तरलता, 21) श्यानता, 22) प्रवृत्ति, 23) धर्म, 24) अधर्म।

वैशेषिक दर्शन में अनुसार ये चौबीस गुण नियम नहीं है। यदि गुणों में उपविभागों को भी गिना जाए तो यह संख्या बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए, नीला, लाल, पीला आदि रंगों को रंग नामक गुण के अन्तर्गत् गिना जा सकता है।

बोध प्रश्न 3

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. नित्य एवं अनित्य द्रव्यों का नामोल्लेख कीजिए और उनके भेदों का कारण बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

18.6.3 कर्म

कर्म भौतिक गति है। गुण के समान कर्म भी द्रव्य पर आश्रित रहने वाला धर्म है। यह गुण जो नियत एवं निष्क्रिय है, के विपरीत गत्यात्मक एवं सक्रिय है। कर्म अन्य कर्म या गुण को धारण नहीं कर सकता है। कर्म ही द्रव्यों के संयोग एवं वियोग का कारण होते हैं।

कर्म का अस्तित्व ज्ञान–निरपेक्ष है। अभिधेय एवं ज्ञेय होने से कर्म को पदार्थ माना जाता है। इसका अस्तित्व इसके ज्ञान एवं अभिव्यक्ति से स्वतंत्र होता है। यह आधारभूत द्रव्य में आश्रय पाता है।

कर्म द्रव्य का निरपेक्ष, असमवायि कारण है। यह अनित्य है इसलिए अनित्य द्रव्यों में ही रहता है।

वैशेषिक दर्शन ने कर्म पांच प्रकार के स्वीकारे हैं।

1) उत्क्षेपण (उपर फेंकना)
2) अपक्षेपण (नीचे फेंकना)
3) आकुन्चन (सिकोड़नपा)
4) प्रसरण (फैलाना)
5) गमन (चलना)

ध्यान रहे कि कुछ कर्मों का प्रत्यक्ष संभव नहीं होता उनका आन्तरिक प्रत्यक्ष से अनुमान मात्र होता है। जैसे कि मन की क्रियाएं।

बोध प्रश्न 4

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. वैशेषिक दर्शन में विभिन्न प्रकार के कर्मों को स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

18.6.4 सामान्य

वैशेषिकों के अनुसार सामान्य वह पदार्थ है जिसके आधार पर विभिन्न वस्तुओं को समूहबद्ध किया जाता है तथा जिसे किसी वर्ग का निर्देश करने वाले सामान्य नाम के द्वारा पुकारा जाता है; जैसे पक्षी, मेज, फल इत्यादि। वैशेषिक बल देते हैं कि सामान्य द्रव्य, गुण एवं कर्म में पाए जाते हैं। ये अदैशिक एवं अकालिक होते हैं। ये प्रत्ययों की वास्तविकता की प्लेटोवादी धारणा से मेल खाते हैं। वस्तुतः एक सामान्य दूसरे सामान्य में नहीं रह सकता। यदि ऐसा होता तो एक एवं सदृष कोटि की वस्तु में विरोधी गुण पाये जाते।

वैशेषिक सामान्य को तीन भागों में विभाजित करता है–

1) पर

2) अपर

3) परापर

'पर' सर्वव्यापक सामान्य है। पर सामान्य का अर्थ है सबसे अधिक व्यापक सामान्य। सत्ता पर सामान्य का उदाहरण है। इस सामान्य के अन्दर सभी सामान्य आ जाते हैं। सबसे कम व्यापक सामान्य को 'अपर–सामान्य' कहा जाता है। इस सामान्य का उदाहरण मनुष्यत्व है। परापर सामान्य पर –सामान्य से कम व्यापक और अपर सामान्य से अधिक व्यापक होता है। जैसे 'प्राणीत्व' परापर सामान्य का उदाहरण है। जो सत्ता से कम व्यापक और मनुष्यत्व से अधिक व्यापक सामान्य है।

भारतीय दर्शन में सामान्य सम्बन्धी विचार तीन दृष्टियों से समझा जा सकता है–

1) नामवाद

इस मत के समर्थकों के अनुसार सामान्य किसी विशिष्ट वर्ग के एक समान व्यक्तियों में पाये जाने वाला आवश्यक धर्म न होकर नाममात्र है। किसी वर्ग के सभी व्यक्तियों का एक समान होना और दूसरे वर्ग के व्यक्तियों से अलग होना नाम के कारण होता है। सामान्य की कोई स्वतन्त्र पृथक सत्ता नहीं होती है। बौद्ध–दर्शन इस मत का समर्थक है जिसका नामवाद अपोहवाद के नाम से जाना जाता है।

2) प्रत्ययवाद

इस मत के अनुसार व्यक्ति–विशेषों के अतिरिक्त सामान्य की कोई सत्ता नहीं है। सामान्य गुण बाहर से आकर व्यक्ति–विशेष के अन्दर प्रवेश नहीं करता है। सामान्य और व्यक्ति–विशेष अभिन्न हैं, उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। यह सामान्यतः व्यक्ति–विशेष का आन्तरिक आधार अथवा सारभूत गुण होता है। जिसे हमारी बुद्धि ग्रहण करती है। जैन दर्शन और अद्वैत वेदान्त इस मत के समर्थक हैं।

3) वस्तुवाद

इस मत के अनुसार सामान्य न तो मानसिक प्रत्यय है, न ही केवल नाम। सामान्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है। सामान्य के कारण ही किसी वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों में समानता पाई जाती है। प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु में विद्यमान यह सामान्य नित्य होता है। सामान्य के कारण ही एक वर्ग के सभी सदस्य एक समान नाम से पुकारे जाते हैं। न्याय–वैशेषिक सम्प्रदाय द्वारा इस मत का समर्थन किया गया है।

18.6.5 विशेष

विशेष सामान्य के ठीक विपरीत है। विशेष निरवयव नित्य द्रव्यों की वह विशिष्टता है जो विभाजित होती है। इन नित्य द्रव्यों में दिक, काल, आत्मा, मन और आकाश, पृथिवी, जल, वायु एवं अग्नि के परमाणुओं की गणना होती है। अतः यह परम एवं विभू है। निरवयव द्रव्यों को विशेष की सहायता से ही एक दूसरे से अलग जाना जाता है। विशेष एक द्रव्य के विभिन्न परमाणुओं को एक दूसरे से पृथक करता है। और इसी कारण प्रत्येक परमाणु अपने में विशिष्ट होता है। विशेष अविभाज्य होने से और आगे विभाजित नहीं होता है। विशेष नित्य है, क्योंकि जिन द्रव्यों में ये रहते हैं, ये नित्य हैं। असंख्य द्रव्यों में पाये जाने से विशेष असंख्य कहा गया है। इस प्रकार विशेष अदृश्य है क्योंकि इसका प्रत्यक्ष संभव नहीं है।

18.6.6 समवाय

समवाय दो वस्तुओं के बीच पाये जाने वाला अवियोज्य सम्बन्ध है। समवाय सम्बध में होने पर एक वस्तु दूसरी वस्तु से पृथक एंव स्वतन्त्र नहीं रह सकती। समवाय सम्बन्ध नित्य सम्बन्ध है। द्रव्य और गुण, द्रव्य और कर्म, सामान्य एवं व्यक्ति, अवयव एवं अवयवी एवं विशेष और नित्य द्रव्य के बीच सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है। धागों एवं कपड़े के बीच, फूल और सुगन्ध के बीच जो सम्बन्ध है वह समवाय सम्बन्ध का परिचायक है। समवाय सम्बन्ध को संयाग से भिन्न समझा जाना चाहिए। संयोग दो द्रव्यों के बीच पृथक हो सकने वाला सम्बन्ध है। संयोग अन्तिम एवं अस्थाई होता है जबकि समवाय नित्य होता है। संयोग दो द्रव्यों के बीच घटित होने वाला सम्बन्ध है जबकि समवाय किसी द्रव्य में समवेत होकर रहने वाला सम्बन्ध है। संयोग एक बाह्य सम्बन्ध होता है जबकि समवाय द्रव्य में आन्तरिक सम्बन्ध के रूप में होता है। जिन दो द्रव्यों का संयोग होता है ये एक दूसरे से पृथक रह सकते हैं। द्रव्य से समवेत पदार्थ द्रव्य से पृथक नहीं हो सकते। समवाय का प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु अनुमान किया जाता है। इसका कारण यह है कि समवाय का कोई विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान/संज्ञा नहीं होती है।

18.6.7 अभाव

अभाव वैशेषिक दर्शन का सातयां पदार्थ है। कणाद द्वारा एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में अभाव की गणना नहीं की गई थी। अभाव को परवर्ती भाष्यकारों द्वारा जोड़ा गया है। वैशेषिक दर्शन का यह मानना है कि अन्य भाव पदार्थों की भांति अभाव का भी प्रत्यक्ष संभव है। अभाव का अर्थ किसी वस्तु का किसी विशेष काल में किसी विशेष स्थान पर अनुपस्थिति है।

अभाव को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित किया गया है–

1) संसर्गाभाव

2) अन्योन्याभाव

संसर्गाभाव से किसी एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु की अनुपस्थिति सूचित होती है, जैसे अग्नि में शीतलता का न होना।

संसर्गाभाव को पुनः तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है–

1) प्रागभाव

2) ध्वंसाभाव

3) अत्यन्ताभाव

प्रागभाव

उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अपने कारण में अभाव प्रागभाव कहलाता है। जैसे बढ़ई के द्वारा बनाये जाने से पूर्व कुर्सी का अस्तित्व नहीं होता। अतः बनने से पूर्व लकड़ी में कुर्सी का अभाव। इसी प्रकार घड़े के निर्माण से पूर्व मिट्टी में घड़े का अभाव। अतः प्रागभाव का प्रारम्भ नहीं होता है। किन्तु इसका विनाश अवश्य होता है।

ध्वंसाभाव

ध्वंसाभाव विनाश के बाद वस्तु का अभाव है। उदाहरण के लिए, घड़े के टूटने (ध्वंस होने) के बाद मिट्टी में घड़े का अभाव। ध्वंसाभाव का प्रारम्भ होता है किन्तु अन्त नहीं होता।

अत्यन्ताभाव

एक वस्तु का दूसरी वस्तु में भूत, भविष्य एवं वर्तमान किसी भी काल में न पाया जाना अत्यन्ताभाव कहलाता है। चन्द्रमा में ताप का न पाया जाना अत्यन्ताभाव का उदाहरण है। अन्यन्ताभाव का न आदि होता है और न अन्त। यह नित्य होता है।

अन्योन्याभाव

अन्योन्याभाव का तात्पर्य है दो वस्तुओं का परस्पर भिन्न होना। इसे प्रतीकात्मक रूप से इस प्रकार व्यक्त कर सकते है– 'अ ब नहीं है।' जैसे–मेज घोडा नहीं है। मेज में घोड़े का अभाव और घोड़े में मेज का अभाव अन्योन्याभाव है। अन्योन्याभाव नित्य होता हैं क्योंकि किन्हीं दो वस्तुओं का नितान्त भिन्न होना सभी कालों एवं सभी स्थितियों के लिए होता है।

18.7 वैशेषिकः ज्ञानमीमांसा

वैशेषिक दर्शन दो प्रकार के प्रमाणों को स्वीकार करता है– प्रत्यक्ष और अनुमान। उनके अनुसार, नैयायिकों द्वारा स्वीकृत अन्य दो प्रमाणों उपमान एवं शब्द को क्रमशः प्रत्यक्ष एवं अनुमान में अन्तर्भूत किया जा सकता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार वस्तु–जगत् से उत्पन्न संवेदनों एवं संस्कार के कारण ज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु जब तक मन सक्रिय न हो तब तक ऐन्द्रिय संवेदन एवं संस्कार स्वतः ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकते। मन की सक्रियता से ही वस्तु जैसी है वैसी ग्रहण की जाती है। अन्यथा, हम केवल कुछ है यही का अवधान कर सकते हैं, न कि वस्तु–विशेष की उपस्थिति का। वस्तु के समुचित ज्ञान के लिए शुद्ध ऐन्द्रिय संवेदनों एवं संस्कारों को वर्गीकृत होकर बुद्धि–विकल्पों में ढलना होता है। मन का इस तरह का परिवर्तन आत्मा में उत्पन्न चेतन कार्य के रूप में जाना जाता है। यह अन्तर्निहित करता है कि चेतना के आश्रयभूत आत्मा के बिना ज्ञान संभव नहीं है।

वैशेषिक दर्शन का मानना है कि विश्व की सभी भौतिक वस्तुओं का निर्माण संघातों से होता है जो उत्पन्न और नष्ट होते हैं। किसी वस्तु के प्रत्येक भाग को और सूक्ष्मतर भाग में बांटा जा सकता है। इन सूक्ष्मतर भागों को पुनः सूक्ष्मतम भागों में बांटा जा सकता है इस प्रकार एक ऐसी स्थिति आ जाती है जहां वस्तु का और सूक्ष्म विभाजन नहीं हो सकता। किसी द्रव्य का यह अविभाज्य कण नित्य होता है और परमाणु कहलाता है। विश्व की सभी भौतिक वस्तुएं इन्हीं परमाणुओं के संघात से निर्मित होती हैं। वैशेषिक मत के अनुसार पृथिवी, जल, वायु, और अग्नि – ये कुल चार प्रकार के परमाणु होते हैं। इन चार प्रकार के परमाणुओं के भिन्न–भिन्न संघात से ही विश्व के

समस्त भौतिक पदार्थों का निर्माण हुआ है। इन्हीं संघातों के टूटने से ही भौतिक पदार्थों का नाश हो जाता है। वैशेषिक का मत है कि विश्व परमाणुओं से निर्मित है, दो परमाणु मिलकर द्वयणुक बनाते हैं। तीन द्वयणुक मिलकर एक त्रयणुक बनाते हैं। एक परमाणु गुण और परिमाण दोनों की दृष्टियों से दूसरे परमाणुओं से भिन्न होता है। वैशेषिक का सृष्टि सम्बन्धी मत 'परमाणुकारणवाद' कहलाता है।

18.8 वैशेषिकः ईश्वर की अवधारणा

वैशेषिक दर्शन ईश्वर में विश्वास करता है और ईश्वर को वेद का रचयिता मानता है। ईश्वरीय कृति होने के कारण ही वेद को प्रमाणित माना गया है। ईश्वर पूर्ण, परमात्मा, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक एवं नित्य है। ईश्वर परमाणुओं की गति को नियन्त्रित करने के लिए नियामक है। ईश्वर कर्मफलदाता और अदृष्ट नियम का संचालक है जो जीवात्माओं के पाप अथवा पुण्य वाले कर्मों के अनुरूप फल प्रदान करता है। जीवों को उनके अदृष्ट के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिए ही ईश्वर परमाणुओं में क्रिया प्रवर्तित करता है।

ईश्वर कर्त्ता है क्योंकि वह विश्व का रूपरेखाकार है। विश्व की सृष्टि एवं विनाश ईश्वर की इच्छा का विषय है। इन अर्थों में वैशेषिक अणुवाद को आध्यात्मिक कहा जा सकता है। मूलरूप से गतिहीन परमाणुओं को गति ईश्वर ही प्रदान करता है। सृष्टि का प्रारम्भ तब तक नहीं होता है जब तक ईश्वर परमाणुओं को गतिमान नहीं कर देता। इसलिए ईश्वर को विश्व का निमित्त कारण कहा गया है।

18.9 वैशेषिकः बन्धन एवं मोक्ष

वैशेषिक का मानना है कि अज्ञान के कारण जीवात्मा बन्धनग्रस्त रहती है और ज्ञान के द्वारा ही बन्धनों से मुक्ति पाई जा सकती है। संक्षेप में, बन्धन अज्ञान के कारण है और मुक्ति ज्ञान के द्वारा। बन्धन और मुक्ति का सम्बन्ध हमारे कर्मों से है। इस सम्बन्ध में वैशेषिक का मानना है कि आत्मा कर्म करता है। अज्ञान के कारण जीवात्माकृत कर्मों को शुभ अथवा अशुभ माना जाता है। जीवात्मा के कर्म प्रवाह के कारण ही शुभ और अशुभ कर्म उत्पन्न होते हैं। कर्म–प्रवाह के अनुसार प्रत्येक कर्म के अनुरूप इसका फल होता है। इस प्रकार शुभ कर्मों का परिणाम शुभ होता है और अशुभ कर्मों का परिणाम अशुभ होता है। ये सब कर्मफल सिद्धान्त से सम्बद्ध हैं।

कर्म का यह नियम ईश्वर द्वारा संचालित होता है। ईश्वर जीवात्माओं को कर्मफल प्रदान करने के लिए परमाणुओं को गति प्रदान करता है और सृष्टि की उत्पत्ति करता हैं जीवात्मा जब तक अपनी कामनाओं के वशीभूत होकर कर्म करता रहेगा तब तक यह बन्धग्रस्त रहेगा। जब जीव मन एवं शरीर से भिन्न अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है, तो यह अपनी इच्छाओं एवं संवेगों के हाथों दुःख को प्राप्त नहीं होता।

मोक्ष सभी दुःखों, इच्छाओं, संवेगों, प्रवृत्तियों एवं सभी गुणों का पूरी तरह से क्षीण हो जाना है। मोक्ष सभी दुःखों, इच्छाओं, संवेगों, प्रवृत्तियों एवं सभी गुणों का पूरी तरह से क्षीण हो जाना है। मुक्ति के समय आत्मा में चेतना सहित सभी गुणों का अभाव हो जाता है। अतः मुक्त आत्मा निष्क्रिय होती है।

18.10 सारांश

ऋषि गोतम न्याय दर्शन के प्रवर्त्तक हैं। यह दर्शन, अन्य भारतीय दर्शनों से असमान, सत् के ज्ञान के लिए वैध तर्क–प्रणाली (अनुमान) पर चिंतन करता है। न्याय दर्शन के अनुसार, ज्ञान विषयों के साथ उद्‌भासित होता है। ज्ञान दो प्रकार का है, यथार्थ एवं अयथार्थ। यथार्थ ज्ञान चार भागों में विभाजित है, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द (आप्त–वचन), जबकि स्मृति, संशय, भ्रम और तर्क अयथार्थ ज्ञान हैं। न्याय दर्शन असत्कार्यवाद को मानता है, जिसके अनुसार कार्य कारण के समान नहीं है। कार्य नयी उत्पत्ति या अपने अस्तित्व का नव–स्फुटन है।

वैशेषिक शब्द इस सम्प्रदाय द्वारा मान्य 'विशेष' नामक पदार्थ पर आधारित है। वैशेषिक दर्शन सात पदार्थों को मानता है। इसके संस्थापक कणाद ने केवल छः पदार्थों का उल्लेख किया है। 'अभाव' नामक सातवाँ पदार्थ बाद के भाष्यकारों द्वारा जोड़ा गया। वैशेषिक दर्शन ज्ञानमीमांसीय वस्तुवादी है। यह दो प्रमाणों को स्वीकारता है, प्रत्यक्ष और अनुमान।

18.11 कुंजी शब्द

भौतिकवाद : भौतिकवाद के अनुसार केवल भूत अर्थात् जड़वस्तुओं की ही सत्ता है। विश्व के सभी पदार्थ यहां तक कि चेतना भी भौतिक पदार्थों से निर्मित है।

बहुतत्ववाद : बहुतत्ववाद के अनुसार विश्व के मूलभूत तत्वों की संख्या अनेक है।

पदार्थ : पदार्थ वस्तुओं का वह व्यापकतम वर्ग है जिसे जाना जा सकता है एवं कोई नाम दिया जा सकता है।

18.12 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

चटर्जी, एस.सी. *द न्याय थ्योरी ऑफ नॉलेज.* कलकत्ता: युनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता प्रेस, 1950.

बारलिंगे, एस.एस. *ए मॉडर्न इन्ट्रोडक्शन टु इण्डियन लॉजिक.* देल्ही: नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1965.

मतिलाल, बिमल कृष्ण. *पर्सेप्शन.* ऑक्सफोर्ड: क्लेरेन्डन प्रेस, 1986.

मुलर, एफ.एस. *द सिक्स सिस्टम ऑफ फिलॉसोफी.* लन्दन: लांगमेन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी पब्लिकेशन, 1928.

विद्या भूषण, एस.सी. *ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक.* देल्ही: मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन, 1971.

शर्मा, सी.डी. *ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* देल्ही: मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन 1964.

सिन्हा, जे. एन. *इण्डियन रियलिज्म*. लंदनः केगन पॉल पब्लिकेशन, 1938.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह*. अनुवाद– उमाशंकर शर्मा. वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन, 2016.

शर्मा. ब्रजनारायण. *भारतीय दर्शन में अनुमान*. भोपालः मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1973.

सूरी, हरिभद्र. *षडदर्शनसमुच्चय*. अनुवाद– कामेश्वरनाथ मिश्र. वाराणसीः चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1979.

18.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. हेतु को पाश्चात्य तर्कशास्त्र से मध्यवर्ती पद के नाम से जाना जाता है। यह वृहत् वाक्य और लघु वाक्य दोनों में पाया जाता है। यह वृहत् पद (साध्य) को लघु पद (पक्ष) में सिद्ध करने में सहायक होता है।

बोध प्रश्न 2

1. न्याय–दर्शन के अनुसार कार्य उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहता। कार्य एक नवीन उत्पत्ति होती है। यह असत्कार्यवाद कहलाता है।

बोध प्रश्न 3

1. पृथिवी, जल, अग्नि, वायु के परमाणु एवं आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन–ये नित्य पदार्थ हैं। पृथिवी, जल, वायु, और अग्नि सावयव एवं संघात रूप में अनित्य होते हैं क्योंकि संघात उत्पत्ति एवं विनाशशील होते हैं।

बोध प्रश्न 4

1. वैशेषिक दर्शन ने पांच प्रकार के कर्म माने हैं :–

   1) उत्क्षेपण

   2) अपक्षेपण

   3) आकुंचन

   4) प्रसरण

   5) गमन

इकाई 19 सांख्य–योग[19]

रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 परिचय

19.2 सांख्य दर्शनः तत्त्वमीमांसा

19.3 सांख्य दर्शनः कारणता–सिद्धान्त

19.4 सांख्य दर्शनः ज्ञानमीमांसा

19.5 सांख्य दर्शनः बन्धन एवं मोक्ष

19.6 योग दर्शनः योगसूत्रों की संरचना

19.7 योग का मनोविज्ञान

19.8 अष्टांग योग

19.9 योग दर्शनः ईश्वर और कैवल्य

19.10 सारांश

19.11 कुंजी शब्द

19.12 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

19.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद छात्र स्वयं को सक्षम पायेंगे–

- सांख्य के कारण–सिद्धान्त की व्याख्या में; पुरुष और प्रकृति के बीच अन्तर स्पष्ट कर पाने में,
- सांख्य के सृष्टि क्रम बन्धन एवं मोक्ष सम्बन्धी विचारों की चर्चा में, सांख्य प्रतिपादित प्रमाणों के विश्लेषण में,
- चित्त के विभिन्न रूपों, क्लेश के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या में,
- योग दर्शन के अष्टांग योग एवं योग की मोक्ष (कैवल्य/समाधि) सम्बन्धी विचारों की चर्चा में।

[19] डॉ. सत्य सुन्दर सेटी, सह आचार्य, मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान विभाग, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, मद्रास, अनुवाद– श्री दिलीप जायसवाल, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

19.1 परिचय

इस इकाई में छात्र सांख्य के कारणता सिद्धान्त, पुरुष एवं प्रकृति के बीच भेद, प्रकृति के गुणों–*सत्त्व, रजस्* एवं *तमस्* तथा कुछ अन्य विषयों को पायेंगे। पिछली इकाई में छात्रों ने वैशेषिक दर्शन का कुछ विस्तार में अध्ययन किया था। वैशेषिक दर्शन के विचारों का अध्ययन करते समय छात्रों ने यहाँ वैशेषिक दर्शन की तत्त्वमीमांसा, पदार्थों की विवेचना बन्धन एवं मोक्ष की अवधारणा आदि विषयों को समझा था।

इस इकाई में छात्र पायेंगे कि सांख्य दर्शन किस प्रकार जगत् के विकास के कारण, विश्व की सृष्टि में प्रकृति एवं पुरुष का योगदान, प्रमाणों अर्थात् सत्य ज्ञान के साधनों के सम्बन्ध में युक्तियाँ प्रस्तुत करता है।

सांख्य दर्शन भारतीय दर्शन के सबसे प्राचीन सम्प्रदायों में से एक है। ऐसा मानने के पीछे कारण यह है कि सांख्य के मूलभूत सिद्धांतों की प्रसंगवश चर्चा न्याय, वैशेषिक, योग, जैन दर्शन एवं वेदान्त दर्शन में पायी जाती है। सांख्य दर्शन के संस्थापक/प्रतिपादक कपिल माने जाते हैं जिन्होंने सांख्यसूत्र की रचना की। ये सूत्र ही सांख्य दर्शन के रूप जाने जाते हैं। इसकी बहुत सारे परवर्ती विद्वानों ने व्याख्या की है, उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्याख्या ईश्वरकृष्ण की *सांख्यकारिका* मानी जाती है।

कुछ विद्वानों का विश्वास है कि सांख्य शब्द की उत्पत्ति संख्या शब्द से हुई है जिसका तात्पर्य है संख्या और सम्यक् या यथार्थ ज्ञान। सम्यक् ज्ञान विश्व के अन्तिम घटक तत्त्वों की संख्या के निर्धारण के द्वारा सत् या वास्तिवकता के बारे में है।

योगदर्शन जीव और जगत् से जुड़े परम सत्य की अनुभूति के सिद्धान्त और प्रयोग पर बल देता है। योगदर्शन के प्रवर्तक पतंजलि के अनुसार योग इन्द्रियों, स्थूल शरीर, सूक्ष्म मन, बुद्धि और अहंकार के नियंत्रण के द्वारा (चित्तवृत्तियों के निरोध के द्वारा) पूर्णता (कैवल्य) को प्राप्त करने का आध्यात्मिक प्रयत्न है। योग आध्यात्मिक अनुभूति के माध्यम से उच्चतम प्रज्ञा की उपलब्धि के लिए पथ–प्रदर्षक करता है।

पतंजलि कृत *'योगसूत्र'* योग के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष का प्रथम व्यवस्थित एवम् आधिकारिक प्रतिपादन है। योगसूत्रों पर व्यास रचित *'योगभाष्य'* और वाचस्पति मिश्र रचित *'तत्व–वैशारदी'* योग–दर्शन के अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। ये दोनों ग्रन्थ योगसूत्रों पर भाष्य के रूप में जाने जाते हैं।

योग–दर्शन घनिष्ठ रूप से सांख्य दर्शन से सम्बद्ध है। जहाँ योग आत्मानुभूति के व्यावहारिक मार्ग पर बल देता है, जबकि सांख्य–दर्शन ध्यान के द्वारा ज्ञान (प्रकृति–पुरुष के विवेकज्ञान) प्राप्ति पर बल देता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि योग व्यवहार पक्ष है और इसका सैद्धांतिक पक्ष है–सांख्य।

सांख्य और योग दर्शन के बीच समानताओं के बावजूद असमानताएं भी देखी जा सकती हैं। दोनों दर्शनों के मध्य असमानता इस बात की है जहां योग नित्य, विभू 'पुरुष विशेष' या 'परम पुरुष' के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकर करता है, वहीं सांख्य का मत है कि पुरुष अनेक हैं, अतः असंख्य जीव हैं।

19.2 सांख्य दर्शनः तत्त्वमीमांसा

सांख्य दर्शन को द्वैतवादी वस्तुवाद कहा जाता है। इसे द्वैतवादी इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह दो परम सत्ताओं–प्रकृति एवं पुरुष को मानता है। इसके साथ ही यह पुरुष की अनेकता एवं बहुविध जड़ तत्व की सत्ता मानता है इसलिए इसे बहुतत्ववादी कहा जा सकता है। यह वस्तुवादी अर्थात् यथार्थवादी दर्शन भी कहा जा सकता है क्योंकि यह जड़–तत्व एवं आत्मा दोनों को एक समान रूप से सत्य मानता है। सांख्य मत के अनुसार आत्म तत्व (पुरुष) और अनात्म तत्व (प्रकृति) विषयी एवं विषय की भांति एक–दूसरे से नितान्त भिन्न हैं।

सांख्य के अनुसार, प्रकृति ही विश्व की सभी वस्तुओं का मूलभूत एवं आदिकारण है। इन वस्तुओं में हमारा मन, शरीर एवं ज्ञानेन्द्रियां भी सम्मिलित हैं। यह देखा गया है कि प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है। कार्य एवं कारण दो अवियोज्य तत्व हैं जो विश्व में उद्भूत (उत्पन्न) सभी वस्तुओं की व्याख्या करते हैं। इसलिए विश्व की सभी वस्तुएं कार्य–कारण सम्बन्धों की श्रृंखला में बंधी होती हैं। इस सम्बन्ध को सांख्य सत्कार्यवाद नाम देता है।

19.3 सांख्य दर्शनः कारणता–सिद्धान्त

सांख्य का कारणता सिद्धान्त सत्कार्यवाद के रूप में जाना जाता है। इसके अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान रहता है। जैसे दही जमने से पूर्व दूध में पहले से विद्यमान रहती है। इसलिए वस्तुतः कार्य कोई नया प्रारम्भ या नई उत्पत्ति नहीं है। इसे 'परिणामवाद' के नाम से भी जाना जाता है। सांख्य–दर्शन ने निम्नलिखित युक्तियों से अपने सत्कार्यवाद का समर्थन किया है–

1) यदि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान नहीं है, तो यह कारण से अतिरिक्त किसी और प्रकार से अस्तित्व में नहीं आ सकता कार्य कुछ और न होकर कारण की ही अभिव्यक्ति होता है, जैसे तेल केवल तेल युक्त बीजों से ही पैदा हो सकता है।

2) एक विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति एक विशिष्ट कारण से ही संभव है। एक घड़े की उत्पत्ति मिट्टी से ही संभव है, कपड़ा धागों से मिलकर ही बनेगा।

3) यदि कार्य कारण से न जुड़ा हुआ हो तो प्रत्येक कार्य कारण से उत्पन्न होने लगेगा। किन्तु ऐसा नहीं होता, किसी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं हो जाताय जैसे बालू, पानी अथवा तेल से कभी मक्खन नहीं पैदा किया जा सकता। मक्खन केवल दूध से ही पैदा हो सकता है।

4) कारण कार्य में पहले से विद्यमान रहता है क्योंकि एक सक्षम (शक्त) कारण ही कार्य को जन्म दे सकता है। एक सक्षम कारण में यह सामर्थ्य होती है कि यह एक विशिष्ट कार्य को जन्म दे सके। यदि कार्य कारण में पहले से विद्यमान नहीं हो, तो कारण–शक्ति कार्य से सम्बन्धित नहीं होती।

5) कार्य कारण में पहले से विद्यमान रहता है क्योंकि यह प्रकृति कारण के समान होता है। कार्य कारण से भिन्न नहीं होता। यदि कारण अस्तित्व में है तो कार्य का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता।

यहाँ एक प्रश्न छात्र के मन में उत्पन्न हो सकता है कि यदि प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है तो सबसे मूलभूत उपादान कारण का कारण क्या होगा? इस प्रश्न के उत्तर में सांख्य का कहना है कि प्रकृति ही विश्व की सभी स्थूल एवं सूक्ष्म वस्तुओं का प्रधान कारण है।

प्रकृति

प्रकृति ही विश्व का मूलभूत कारण है। इसे प्रथम (आदि) कारण कहा जाता है। विश्व में समस्त वस्तुएं इसी से निष्पन्न हैं प्रकृति विश्व का आदि तत्व होने से कारणरहित, नित्य और सर्वव्यापक है। इसी कारण, यह प्रधान कही जाती है। इसका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता लेकिन इसके कार्यों से इसकी सत्ता का अनुमान किया जा सकता है। इसलिए, इसे अनुमा भी कहते हैं। चैतन्य का अभाव होने के कारण इसे जड़ कहा जाता है। अनभिव्यक्त अवस्था में होने के कारण इसे अव्यक्त कहा जाता है। विश्व में विद्यमान सभी वस्तुएं प्रकृति के कार्य अथवा परिणाम हैं। ये पराधीन, सापेक्ष, अनेक एवं अनित्य हैं क्योंकि ये उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं। जबकि दूसरी ओर प्रकृति अजन्मा, स्वतंत्र, निरपेक्ष, एक, नित्य एवं सृष्टि और लय (विनाश) के परे है। वस्तुएं व्यक्त एवं सावयव हैं किन्तु प्रकृति अव्यक्त एवं निरवयव हैं। इसलिए, व्यास कहते हैं कि प्रकृति 'है' और 'नहीं है', दोनों है।

प्रकृति की सत्ता सिद्ध करने के लिए युक्तियाँ

प्रकृति की सत्ता को सिद्ध करने के लिए ईश्वरकृष्ण द्वारा पाँच युक्तियाँ दी गई हैं–

1) यह विश्व अनेक वस्तुओं से मिलकर संरचित है। चूंकि वस्तुएं स्वयं अपनी उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकतीं इसलिए सभी वस्तुओं की सत्ता के लिए कोई कारण अवश्य होना चाहिए। वस्तुएं सीमित, परतंत्र, सापेक्ष एवं प्रयोजनयुक्त होती हैं। इसलिए उनको उत्पन्न करने वाला कारण असीमित, उत्पत्ति एवं विनाश से परे, स्वतंत्र एवं नित्य होना चाहिए। प्रकृति ऐसा ही कारण है।

2) प्रकृति सभी प्रकार की वस्तुओं का संघटन है। कुछ ऐसे सामान्य गुण हैं जो सभी वस्तुओं में पाये जाते हैं। इसके चलते सुख, दुःख एवं उदासीनता सभी प्रकार की वस्तुओं में पाई जाती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई एक ऐसा सामान्य कारण होना चाहिए। जो सुख, दुःख एवं उदासीनता तीनों गुणों को अपने में धारण करता है। प्रकृति ऐसा ही कारण है।

3) कोई भी क्रिया एक समर्थ कारण में ही जन्म लेती है। सभी कार्य अपने कारणों, जिनमें ये अव्यक्तरूप से विद्यमान रहते हैं, से उत्पन्न होते हैं। अस्तित्व में विद्यमान सत्ता का ही उद्विकास होता है। विश्व की समस्त वस्तुएं, जोकि कार्य हैं, अवश्य ही किसी विश्व कारण में सन्निहित हैं।

4) प्रत्येक कारण के अनुरूप कार्य होता है, इस प्रकार कार्य और कारण एक दूसरे से पृथक होते हैं–यद्यपि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने उपादान कारण में उपस्थित रहता (सत्कार्यवाद) है। इसका निहितार्थ है कि विश्व का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। यह कारण समग्रता में विश्व को व्यक्त करता है। प्रकृति ही यह कारण है।

5) सांख्य प्रतिपादित सत्कार्यवाद कार्य कारण सम्बन्ध को समवाय रूप में स्वीकार करता है, जिसका निहितार्थ यह है कि प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारण में पूर्व से ही विद्यमान रहता है। जिसके अनुसार कार्य विनष्ट होने की स्थिति में अपने कारण में ही तिरोहित हो जाता है। इससे विश्व में एकरूपता बनी रहती है। विश्व की साम्यावस्था, जिससे सबकुछ व्यक्त होता है, प्रकृति से सम्बद्ध की जाती है।

प्रकृति के गुण

सांख्य दर्शन प्रकृति के तीन गुणों को मान्यता प्रदान करता है। ये तीन गुण हैं– *सत्त्व, रजस्* और *तमस्*। प्रकृति इन तीन गुणों की साम्यावस्था है।

1) *सत्त्व*– सत्त्व प्रकृति का वह तत्व है जो प्रकृति में सुखात्मक, लघु एवं प्रकाशक है। इन्द्रिय, मन बुद्धि के ज्ञेय विषयों को प्रकाशित करने की प्रवृत्ति, प्रकाश दीप्ति, दर्पण या क्रिस्टल में प्रतिबिम्बित करने की शक्ति– यह सब वस्तुओं में पाये जाने वाले सत्त्व गुण के व्यापार के कारण ही संभव हो पाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सत्त्वगुण का रंग सफेद है।

2) *रजस्* – *रजस्* वस्तुओं में विद्यमान क्रियाशीलता के लिए उत्तरदायी होता है। इसका रंग लाल बताया जाता है। यह अपनी गतिशीलता और उद्वेपन के कारण क्रियाशील है। यह प्रकृति में दुःखात्मक होता है।

3) *तमस्* – *तमस्* के कारण ही वस्तुओं में निष्क्रियता और जड़ता रहती है। इसका रंग काला बताया जाता है। भारीपन, जड़ता और आलस्य का कारण होने के कारण इसे सत्त्वगुण का विरोधी माना जाता है। यह अंधकार और अज्ञान को उत्पन्न करता है। यह चित्त–विभ्रम और संशय के लिए उत्तरदायी होता है।

किसी वस्तु को उत्पन्न करने के क्रम में ये तीनों गुण परस्पर विरोध अथवा सहयोग की स्थिति में रहते हैं। ये तीनों गुण विश्व की सभी वस्तुओं में विद्यमान रहते हैं। कोई भी गुण अकेले नहीं रह सकता। तीनों गुणों में से प्रत्येक गुण अन्य दो गुणों पर प्रभावी होने का प्रयास करता है। इस प्रकार ये साम्यावस्था में नहीं रहे सकते। इसके परिणामस्वरूप गुण एक क्षण के लिए भी अपनी शुद्ध अमिश्रित अवस्था में नहीं रह सकते।

गुणों में दो प्रकार के परिवर्तन होते हैं– स्वरूप और विरूप। विश्व की प्रलयावस्था में प्रत्येक गुण दूसरे गुणों को प्रभावित किए बिना अपने आप परिवर्तित होते रहते हैं अथवा *सत्त्व सत्त्व* में, *रजस् रजस्* में और *तमस् तमस्* में परिवर्तित होता रहता है। गुणों में होने वाले इस प्रकार के परिवर्तन को सारूपपरिणाम कहते हैं। इस अवस्था में गुणों में किसी वस्तु को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं होती। विश्व की सृष्टि अवस्था में गुणों में परस्पर परिवर्तन होता है और प्रत्येक गुण दूसरे गुणों पर प्रभावी होने का प्रयास करते हैं। गुणों के इस रूपान्तरण के कारण ही विभिन्न तत्वों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार का परिवर्तन विरूपपरिणाम कहलाता है। यह विश्व के विकास का आरम्भ–बिन्दु है।

पुरुष

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष या आत्मा एक नित्य सत्ता है। यह पुरुष आत्मा, विषयी एवं ज्ञाता है। यह विषय नहीं है। यह पुरुष न तो शरीर है न मन, न अहंकार और न ही बुद्धि है। यह कोई ऐसा द्रव्य नहीं है चेतना जिसका गुण है। यह समस्त ज्ञान का आधार और परम ज्ञाता है। यह स्वयं किसी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। यह साक्षी, नित्य स्वतन्त्र, शान्त, तटस्थ दृष्टा है। यह देश–काल, विकार एवं क्रिया से परे है। इसे तीनों गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस) से रहित, साक्षी, दृष्टा, ज्ञाता एवं प्रकाश के स्वभाव वाला बताया गया है। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष शुद्ध चैतन्य है और इसलिए प्रकृति की सीमाओं से परे है। यह समस्त विकारों से रहित है। यह राग–द्वेश एवं अहंकार से परे है।

पुरुष की सत्ता को सिद्ध करने के लिए सांख्य दर्शन द्वारा पाँच प्रकार की युक्तियां प्रस्तुत की गई हैं–

1) विश्व की सभी वस्तुओं की सत्ता किसी दूसरे के प्रयोजन के लिए होती है। प्रकृति अचेतन होने के कारण स्वयं वस्तुओं का उपभोग नहीं कर सकती। इसलिए सभी वस्तुएं पुरुष के प्रयोजन के लिए होती हैं।

2) विश्व की सभी वस्तुएं तीन गुणों से मिलकर बनी हैं किन्तु पुरुष इस तीन गुणों का साक्षी और तीनों गुणों से परे है।

3) पुरुष शुद्ध चैतन्य है और हमारे इन्द्रियानुभवों एवं बुद्धि की कोटियों से परे है यह विधेयात्मक एवं नकारात्मक सभी प्रकार के ज्ञानों का अधिष्ठाता है और इस कारण पुरुष के बिना किसी प्रकार का अनुभव सम्भव नहीं हो सकता है। यह इसलिए है क्योंकि पुरुष समस्त आनुभविक ज्ञान का एकमात्र प्राधिकारी है।

4) चूंकि प्रकृति अचेतन है, इसलिए यह स्वयं अपनी सृष्टि का भोग नहीं कर सकती। इसलिए भोग करने के लिए चेतन सत्ता की आवश्यकता होती है। प्रकृति भोग्य है इसलिए उसका कोई न कोई भोक्ता अवश्य होना चाहिए।

5) कुछ ऐसे लोग भी हैं जो विश्व के समस्त दुःखों से मुक्त होने की इच्छा करते हैं। मुक्ति की चाह एक ऐसे जीव की ओर संकेत करती है जो मुक्ति के लिए प्रयास करके मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. प्रकृति के तीन गुणों की संक्षिप्त व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2. 'पुरुष' की विशेषताओं का उल्लेख करें।

.....

.....

.....

.....

.....

सृष्टि–विकास

प्रकृति एवं पुरुष के संयोग के द्वारा विश्व एवं विश्व में विद्यमान तत्वों का निर्माण होता है। प्रकृति जड़ होने के कारण अकेले विश्व का निर्माण नहीं कर सकती। इसी प्रकार निष्क्रिय

होने से पुरुष भी अकेले विश्व का निर्माण नहीं कर सकता। इसलिए सृष्टि क्रम को आरम्भ करने के लिए प्रकृति एवं पुरुष का संयोग आवश्यक है भले की ये भिन्न एवं विरोधी स्वभाव वाले क्यों न हों। आगे प्रस्तुत एक उदाहरण की सहायता से छात्र पुरुष एवं प्रकृति के सम्बन्ध को अच्छी तरह समझ सकेंगे। प्रकृति एक अन्धे व्यक्ति की भांति है और पुरुष एक लंगड़े व्यक्ति की भांति है। परन्तु ये दोनों परस्पर सहयोग के द्वारा अपने गन्तव्य तक पहुंच जाते हैं। लंगड़ा व्यक्ति अंधे व्यक्ति के कन्धों पर बैठ जाता है। और अन्धे व्यक्ति को बताता है कि कहाँ और किस दिशा में जाना है। कुछ इसी तरह निष्क्रिय–चेतन पुरुष एवं जड़ एवं सक्रिय परस्पर सहयोग के द्वारा सृष्टि क्रम को आरम्भ करते हैं।

इनके संयोग के सम्बन्ध में सांख्य का कहना है कि प्रकृति और पुरुष के बीच कोई वास्तविक सम्पर्क नहीं होता बल्कि एक–दूसरे के सामीप्यभाव से ही प्रकृति के गुणों की साम्यावस्था भंग हो जाती है। तभी सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है और इन गुणों का निरन्तर एक दूसरे में रूपान्तरण होता रहता है। परिणामस्वरूप, सृष्टि का आरम्भ होता है।

सृष्टि क्रम का निरूपण इस प्रकार किया गया है–

1) महत्– महत् सृष्टि का प्रथम विकार है। यह अपनी प्रकृति में ब्रह्माण्डीय है। इस तथ्य के अतिरिक्त, इसका मनोनिष्ठ पक्ष भी है जिसे बुद्धि कहा जाता है। यहां यह ध्यान रहे कि बुद्धि भौतिक होने से चेतना, जो नित्य है, के समान नहीं है। बुद्धि का मुख्य कार्य निर्णय करना है एवं यह स्मरण क्रिया का एक अंग होता है। इसी के आधार पर ज्ञाता एवं ज्ञेय में अंतर किया जाता है। सत्त्व बुद्धि का प्रभावी गुण है। बुद्धि आत्मा, जो कि सभी भौतिक वस्तुओं और गुणों से पृथक होती है, से तादात्म्य स्थापित करने में सहायता प्रदान करती है।

2) अहंकार– अहंकार सृष्टि का दूसरा विकार है। अहंकार सामान्यरूप से किसी व्यक्ति के 'मैं' या 'मेरा' पन की भावना से जुड़ा हुआ होता है। अहंकार जीवों में पाई जाने वाली बुद्धि का कार्यरूप है। अहंकार के कारण ही पुरुष स्वयं को क्रियावान (कर्ता) समझकर इच्छा करता है, विभिन्न लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए चेष्टा करता है और विभिन्न गुणों का धारण करता है जीव को ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से किसी विषय का संवेदन होता है। इसके बाद मन इन संवेदनों को प्रतिबिम्बित करती है और विषय के स्वरूप का निश्चय करती है। तत्पश्चात् इन विषयों के साथ 'मेरा', 'मेरे लिए' इस प्रकार का सम्बन्ध जुड़ता है ऐसा अहंकार के कारण होता है।

3) मन– सांख्य दर्शन के अनुसार मन न तो नित्य होता है और न ही अणुरूप। यह सावयव होता है अर्थात् इसके भाग (अवयव) किए जा सकते हैं जिसके कारण यह एक ही समय में विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क में आ सकता है। मन इन्द्रिय–संवेदनों का विश्लेषण एवं संश्लेषण करके सविकल्पक प्रत्यक्ष को संभव बनाता है।

4) ज्ञानेन्द्रियाँ– ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच मानी गई हैं– प्राणेन्द्रिय (नाम) श्रवणेन्द्रिय (कान) चक्षुरेन्द्रिय (आँख) त्वगेन्द्रिय (त्वचा) रसनेन्द्रिय (जीभ)। सांख्य–मत के अनुसार इन्द्रिय एक सामर्थ्य जो अंग–विशेष में रहती है। इस सामर्थ्य या शक्ति से प्रत्यक्ष का विषय बनने वाली वस्तुओं का बोध होता है। जिसका तात्पर्य यह है कि कान स्वयं में इन्द्रिय नहीं है बल्कि सुनने की सामर्थ्य युक्त इन्द्रिय है। इस प्रकार इन्द्रियाँ इन्द्रियगोचर न होकर अनुमेय होती हैं। इनके द्वारा सम्पादित कार्यों से ही इनका पता चलता है। ये सभी पुरुष के कारण जन्म लेती हैं और अहंकार का परिणाम हैं।

5) कर्मेन्द्रियाँ– कर्मेन्द्रियाँ पाँच मानी गई हैं– मुख, हाथ, पैर, गुदा एवं जनेन्द्रिय। इनके द्वारा बोलना, ग्रहण करना, चलना–फिरना, मल–निष्कासन एवं प्रजनन कार्य सम्पादित होता है।

6) तन्मात्राएं– तन्मात्राएं कुल पाँच हैं– शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। तन्मात्राएं अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं क्योंकि ये वस्तुओं (विषयों) के तत्त्व हैं। इनका प्रत्यक्ष न होकर अनुमान होता है। सांख्य मत के अनुसार–पृथिवी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश इन पंचमहाभूतों की उत्पत्ति पंच तन्मात्राओं से ही होती है।

7) महाभूत– महाभूत पाँच बताए गए हैं, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश। इन महाभूतों के गुण क्रमशः गन्ध, स्वाद, रूप, स्पर्श एवं शब्द हैं।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. 'महत्' क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

19.4 सांख्य दर्शनः ज्ञानमीमांसा

सांख्य दर्शन तीन प्रमाणों को स्वीकार करता है– प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द। सांख्य के अनुसार आत्मा ही प्रमाता होता है। किसी विषय के ज्ञान के लिए विषय और इन्द्रिय का संयोग होना अनिवार्य है। पुनः इन्द्रिय और मन का अनिवार्य संयोग होने से ज्ञान के लिए मन महत् (बुद्धि) से सम्बद्ध होता है। इस प्रकार महत् विषय का आकार ग्रहण कर लेता है। किन्तु महत् भौतिक एवं अचेतन होने के कारण स्वतः ज्ञान नहीं उत्पन्न कर सकता। इस ज्ञान को चेतन तत्व पुरुष की आवश्यकता होती है। सांख्य दर्शन दो प्रकार के प्रत्यक्ष मानता है– सविकल्पक एवं निर्विकल्पक प्रत्यक्ष। इनका प्रतिपादन न्याय दर्शन ने भी किया है।

सांख्य का मानना है कि व्याप्ति सभी प्रकार के अनुमानों में पाई जाती है। सांख्य दर्शन में दो प्रकार के अनुमान बताए गए हैं– सकारात्मक (वीत) और नकारात्मक (अवीत)। वीत अनुमान सर्वव्यापी सकारात्मक वाक्यों का होता है। अवीत अनुमान सर्वव्यापी निषेधात्मक वाक्यों का होता है। इन दोनों प्रकार के सर्वव्यापी वाक्यों का विश्लेषण इस खण्ड में किया गया है। सांख्य दर्शन न्याय के पंचावयव अनुमान को स्वीकार करता है। सांख्य शब्द को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मानता है। शब्द प्रमाण लौकिक एवं वैदिक दो प्रकार का होता है।

19.5 सांख्य दर्शनः बन्धन एवं मोक्ष

पुरुष अर्थात् आत्मा जोकि नित्य, शुद्ध चैतन्य एवं सर्वव्यापी है, अज्ञान के कारण स्वयं को मन, अहंकार एवं महत् मानने लगता है। मन, अहंकार एवं महत् प्रकृति के विकार मात्र हैं। इस प्रकार पुरुष अर्थात् आत्मा में सांसारिक सुख–दुःख का अनुभव करता है। चूंकि विषय (वस्तुएं) त्रिगुणात्मक तथा आत्मयुक्त होता है इसलिए विश्व अनेकों वस्तुओं में निर्मित है। यहां तक की ये आन्तरिक रूप से भी सम्बन्धित होती हैं इसलिए दुःख की उत्पत्ति भी अवश्यम्भावी है। ऐसा इसलिए है क्योंकि सांख्य का मानना है कि जहाँ गुण है वहाँ दुःख है। सांख्य दर्शन में स्वर्गस्थ जीवन को भी गुणों के द्वारा नियन्त्रित बताया गया है।

यदि दुःख एवं बन्धन है, तो उनसे मुक्ति के भी उपाय हैं। सांख्य–दर्शन में दो प्रकार की मुक्ति मानी गयी है। ये हैं, जीवन मुक्ति, विदेह मुक्ति।

जब जीव वर्तमान में ही जीवित रहते तत्व–साक्षात्कार करके सांसारिक दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है, तो यह जीवन मुक्ति कहलाती है। विदेह मुक्ति की अवस्था में जीव सभी प्रकार के दुःखों से पूर्ण मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था मृत्यु के बाद ही प्राप्त होती है। यह विदेह मुक्ति कैवल्य के नाम से भी जानी जाती है। यह स्थूल शरीर से मुक्ति है। सांख्य–दर्शन में मुक्ति को 'अपवर्ग' कहा गया है, और इसे जीवन का सर्वोच्च पुरुषार्थ माना गया है।

19.6 योग दर्शनः योगसूत्रों की संरचना

पतंजलि रचित *योगसूत्र* चार भागों में विभाजित हैं; समाधिपाद, साधनापाद, विभूतिपाद, कैवल्यपाद।

प्रथम भाग समाधिपाद योग के स्वरूप और समाधि के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करता है। यहाँ चित्त की वृत्तियों के स्वरूप एवं प्रकारों का भी वर्णन मिलता है। दूसरे भाग साधनापाद में क्लेशों की चर्चा की गई है तथा क्लेशों को विनष्ट करने के उपायों की भी चर्चा की गई है। यहां कर्म–सिद्धान्त एवं कर्म–जनित बन्धनों की चर्चा की गई है। तृतीय भाग विभूतिपाद में योग–साधना के द्वारा प्राप्त किए जाने वाले अतीन्द्रिय एवं अलौकिक सिद्धियों का वर्णन मिलता है। चतुर्थ अर्थात् अन्तिम भाग कैवल्यपाद में योग–साधना के प्रधान लक्ष्य कैवल्य अर्थात् मुक्त के स्वरूप की विस्तार से चर्चा की गई है।

19.7 योग का मनोविज्ञान

योग के पथ को समझने के लिए इसके मनोवैज्ञानिक आधार को समझना आवश्यक है। योग के मनोविज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है– चित्त, चित्त से तात्पर्य सांख्य–दर्शन में वर्णित तीन अन्तःकारणों– बुद्धि, अहंकार और मन से है। यह प्रकृति का प्रथम विकार है जिसमें सत्त्वगुण रजस् और तमस् पर प्रभावी रहता है।

यह जड़ प्रकृति का है किन्तु पुरुष के सामीप्य के कारण यह चेतना को धारण कर लेता है। यह चित्त जब किसी वस्तु से जुड़ता है तो यह उसी वस्तु के आकार को ग्रहण

कर लेता है। यही आकार वृत्ति कहलाता है। चित्त की इन वृत्तियों के कारण ही आत्मा जागतिक–विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है। वस्तुतः आत्मा में कोई वृत्ति घटित नहीं होती किन्तु चित्त की वृत्तियों के आत्मा में प्रतिबिम्बित होने से आत्मा में परिवर्तन की प्रतीति होती है। जैसे चन्द्रमा नदी के जल में हिलता प्रतीत होता है और जल की धारा चमकती वस्तु प्रतीत होती है, इसी प्रकार पुरुष वृत्तियों से चलायमान प्रतीत होता है और इसी प्रकार चित्त पुरुष के प्रतिबिम्ब से चेतन प्रतीत होता है। अपने स्वरूप का ज्ञान होने की अवस्था में आत्मा स्वयं को चित्तवृत्तियों से पृथक कर लेती है। इसके साथ ही आत्मा सांसारिक सुख–दुःख से उत्पन्न रोग–द्वेष से भी स्वयं को पृथक कर लेती है ये राग–द्वेष ही ये बन्धन हैं जिनसे मुक्त होने के लिए ही योगी अपनी चित्तवृत्तियों को नियन्त्रित करता है। योग के निरन्तर अभ्यास के द्वारा ही चित्त–वृत्तियां नियन्त्रण में आती हैं। इसी संदर्भ में पतंजलि ने योग को चित्त–वृत्तिनिरोध के रूप में परिभाषित किया है।

19.7.1 चित्त की अवस्थाएं

योग दर्शन में वर्णित चित्त की पांच अवस्थाएं 'चित्तभूमि' कही गई हैं।

अ) क्षिप्त

यह चित्त की प्रथम अवस्था है। इस अवस्था में चित्त अत्यन्त विक्षुब्ध एवं चंचल बना रहता है और सांसारिक विषयों में आसक्त रहता है।

ब) मूढ़

चित्त की इस अवस्था में *तमस्* अन्य दो गुणों सत्त्व एवं *रजस्* पर हावी रहता है।

स) विक्षिप्त

चित्त की विक्षिप्तावस्था में सत्त्वगुण की प्रबलता रहती है। इस अवस्था योग का आरम्भ होता है और चित्त ईश्वर या परम आत्मा को पाने का प्रयत्न करता है। सत्त्व की प्रधानता के कारण इस अवस्था में अस्थाई रूप से चित्तवृत्ति निरोध (चित्तवृत्ति में रुकावट) होता रहता है।

द) एकाग्र

चित्त की एकाग्र अवस्था में सत्त्वगुण की अधिक प्रबलता के कारण, चित्त किसी विषय में टिका रहता है।

इ) निरुद्ध

इस अवस्था में चित्तवृत्तिनिरोध के पश्चात् चित्त में संवेदन (छापें या संस्कार) शेष रह जाते हैं।

19.7.2 चित्त के रूप

तीन गुणों से निर्मित चित्त सतत् परिवर्तनशील बना रहता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि कोई एक गुण अन्य दो गुणों पर हावी होने का निरन्तर प्रयास करता रहता है। इस प्रकार चित्त कुल तीन रूप का पाया जाता है।

प्रख्या

इस अवस्था में *सत्त्व* गुण की प्रबलता रहती है और *तमस्* दबा (अधीनस्थ) रहता है। चित्त अणिमादि विभिन्न सिद्धियों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है।

प्रवृत्ति

इस रूप में चित्त में *रजस्* की प्रबलता रहती है और *तमस्* निर्बल रहता है। अतः चित्त प्रबोधित (जाग्रत्) दिखाई पड़ता है। इस प्रकार चित्त ध्यान अथवा धारणा में कार्यरत दिखाई देता है।

स्थिति

चित्त सत्त्व की प्रबलता वाला होता है और *रजस्* अधीनस्थ होता है। इस रूप में चित्त अपने स्वयं के रूप में स्थित होता है और अन्यों से पृथक होता है।

बोध प्रश्न 3

ध्यातव्यः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. चित्त क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

19.7.3 चित्त की वृत्तियाँ

चित्त में निरन्तर विरूपित या परिवर्तित होता रहता है। पुरुष के प्रतिबिम्ब के कारण चित्त चेतना को धारण कर लेता है। चित्त अपनी मूल प्रकृति में अचेतन है। चित्त में होने वाले परिवर्तनों को ही चित्त की वृत्तियाँ कहते हैं। चित्त वृत्तियाँ पाँच प्रकार की बताई गई हैं।

प्रमाण

सांख्य की भांति योग दर्शन भी तीन प्रमाणों को मानता है। ये तीन प्रमाण हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द। प्रत्यक्ष की अवस्था में चित्त ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क में आता है। और उन्हीं के आकार को धारण कर लेता है। अनुमान की स्थिति में चित्त वस्तु के सामान्य स्वरूप को धारण करता है और यही बात शब्द पर भी लागू होती है।

विपर्यय

वस्तु के वास्तविक (यथार्थ; जैसा है वैसा ही) स्वरूप का ज्ञान नहीं होना विपर्यय या संशय कहलाता है।

विकल्प

विकल्प की स्थिति में जिस वस्तु की प्रतीति होती है वह सामने विद्यमान नहीं रहती। अतः यह प्रतीति केवल शाब्दिक एवं काल्पनिक प्रतीति होती है।

निद्रा

निद्रा चित्त–वृत्तियों का ऐसा प्रकार है जिसमें संज्ञा का अभाव होता है। यह वस्तुओं के अभाव का ज्ञान होता है। इस अवस्था में चित्त में *तमस्* की प्रबलता रहती है। तथापि जब व्यक्ति सोया रहता है तब भी ज्ञान का अल्पांश उपस्थिति होती है।

स्मृति

पूर्व में अनुभव की गई वस्तुओं का स्मरण स्मृति कहलाती है। वस्तुओं का ज्ञान होते समय, वस्तुओं की छाप अथवा संस्कार चित्त पर पड़ जाती है। और बाद में ये संस्कार ही स्मृति रूप में उभरते हैं।

बोध प्रश्न 4

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. 'स्मृति एक चित्तवृत्ति है' व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

.....

19.7.4 क्लेशों के प्रकार

चित्त में विक्षेप के लिए अनेक कारण उत्तरदायी हैं। उनमें से कुछ हैं, संसार की वस्तुओं से जुड़ाव, वस्तु/विषय की अयथार्थ संज्ञा, निष्क्रियता, संशय, प्रमाद, आदि। मानसिक दुःखों के मूल कारण को ही योग–दर्शन में क्लेश कहा गया है। इन कारणों का कारण यह है कि चित्त स्वयं पर पुरुष के प्रतिबिम्बन से स्वयं को कर्त्ता और भोक्ता के रूप में कल्पित करने लगता है। इसलिए, क्लेश उत्पन्न होते हैं।

योग–दर्शन में पाँच प्रकार के क्लेशों का वर्णन किया गया है, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश।

अविद्या तब उत्पन्न होती है जब आत्मा या पुरुष को अनित्य और भौतिक या अचेतन समझने लगते हैं। जबकि पुरुष आनन्दस्वरूप, नित्य है और शुद्ध चेतना धारण करता है। अस्मिता पुरुष और प्रकृति को एक ही ही समझ लेता है। राग धन, स्त्री आदि सांसारिक सुखों की चाह है। द्वेष दुःख पैदा करने वाले साधनों के प्रति क्रोध की भावना है। अभिनिवेश मृत्यु का भय है।

19.8 अष्टांग–योग

मनुष्य अपने शरीर, इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति रखता है। इसके परिणाम स्वरूप मनुष्य सांसारिक दुःखों एवं बन्धन में पड़ जाता है। इन सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाने के लिए और भीतरी अज्ञान को नष्ट करने के लिए व्यक्ति को अपनी इन्द्रियों, मन एवं शारीरिक क्रियाओं को नियन्त्रित करना होता है और इसके लिए आवश्यक है कि वह चित्त की वृत्तियों को नियन्त्रित करे। इस दृष्टि से योग दर्शन ने आठ अंगों वाले मार्ग का निर्देश किया है जो हमारे रागों (तीव्र इच्छाओं) एवं सांसारिक सुखों के भोग की लालसा पर नियंत्रण में सहायता करते हैं।

यह अष्टांग मार्ग इस प्रकार है–

1) **यम**– यह शरीर मन एवं वाणी का नियन्त्रण है। यम कुल पांच हैं–

   अ) अहिंसा– यह किसी प्राणी को किसी भी प्रकार की शारीरिक, मानसिक अथवा वाचिक पीड़ा न पहुंचाना है।

   ब) सत्य – इसके अन्तर्गत् न केवल वाणी से बल्कि मन से भी सत्य आचरण करना होता है।

   स) अस्तेय– इसके अन्तर्गत् दूसरे की वस्तुओं को न चुराना और दूसरे के धन का लोभ न करना सम्मिलित है।

   द) ब्रह्मचर्य – इसके अन्तर्गत् काम–वासनाओं का नियन्त्रण सम्मिलित है।

   य) अपरिग्रह– इसके अन्तर्गत् मन, वचन और कर्म से अनावश्यक एवं भोग–विलास की वस्तुओं का संग्रह न करना सम्मिलित है।

2) **नियम**

इसके अन्तर्गत् अच्छे आचरण को सुनिश्चित करने वाले नियमों का विधान किया गया है। नियम कुल पांच हैं–

   अ) शौच– शौच का तात्पर्य स्वच्छता से है जिसके अन्तर्गत् दोनों प्रकार की स्वच्छता, बाह्य (स्नानादि) एवं आन्तरिक स्वच्छता (मैत्री, करूणादि की भावना) सम्मिलित हैं।

   ब) सन्तोष– अपने सीमित साधनों में सन्तुष्ट रहने की भावना को ही सन्तोष कहा गया है।

   स) तप– सहन करने की शक्ति का ही नाम तप है।

   द) स्वाध्याय– धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन से व्यक्ति में आध्यात्मिक ज्ञान का स्तर बढ़ता है।

   ए) ईश्वर प्रणिधान– अपने समस्त कर्मों को ईश्वर के प्रति अर्पण कर देना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है।

3) **आसन**– शरीर को सुख–पूर्वक स्थिर बनाये रखने की विभिन्न स्थितियों को आसन कहते हैं। आसन न केवल चित्त की एकाग्रता के लिए सहायक होते हैं बल्कि इनसे शारीरिक एवं मानसिक संयम में भी सहायता मिलती है। नियमित आसन करने से व्यक्ति विभिन्न बाह्य एवं आन्तरिक अंगों को नियन्त्रित कर सकता है।

4) प्राणायाम

यह योगाभ्यास की चतुर्थ अवस्था है। प्राणायाम से, तात्पर्य श्वासों के नियन्त्रण से है। इससे चित्त की एकाग्रता में सहायता मिलती है। प्राणायाम के कुल तीन चरण होते हैं–

पहले चरण में जितना संभव हो अपने भीतर प्राण वायु भरनी होती है। यह क्रिया पूरक कहलाती है। प्राण वायु भरने के बाद दूसरे चरण कुंभक में पूरक की आधी अवधि तक श्वास भीतर रोके रखना होता है। तीसरे चरण रेचक में धीरे–धीरे करके प्राण वायु बाहर निकाल देनी होती है। रेचक में पूरक जितना ही समय लिया जाता है।

5) प्रत्याहार

प्रत्याहार के चरण में साधक अपनी इन्द्रियों को सांसारिक विषयों से हटा लेता है। इसमें व्यक्ति सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति से स्वयं को रोकता है। अतः, वस्तु के प्रति आसक्ति का निरोध हो जाता है।

6) धारणा

हमारा चित्त प्रायः एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर चलायमान रहता है। अपने चित्त को किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित करने और चित्त को अनेक विषयों की ओर जाने से रोकने को धारणा कहते हैं। इस अवस्था में साधक लगातार किसी एक विषय की ओर ध्यान केन्द्रित करता है और चित्त के किसी दूसरे विषय की ओर जाने की अवस्था में पुनः शीघ्रता से पूर्व विषय की ओर ले आता है।

7) ध्यान

इस अवस्था में साधक किसी एक विषय पर लम्बे समय तक अपने चित्त को एकाग्र करने में सफल हो जाता है। इसमें साधक विषय के एक अंग पर ध्यान करते हुए समग्र विषय का अनुभव करता है। इस अवस्था में साधक चित्त के वास्तविक स्वरूप को समझने लग जाता है।

8) समाधि

योग–साधना के अन्तिम चरण को समाधि कहते हैं। इस अवस्था में साधक जहां एक ओर चित्त का स्वभाव समझ लेता है कि यह किस प्रकार विषय का आकार ग्रहण करता है। यहां ध्यान की प्रक्रिया (ध्यान) एवं विषय (ध्येय) एक और समरूप हो जाते हैं। समाधि की अवस्था में चित्त वृत्तियों को सम्पूर्ण निरोध हो जाता है। समाधि दो प्रकार की होती है, सम्प्रज्ञात् अथवा सबीज समाधि (सविशेषण समाधि), असम्प्रज्ञात् अथवा निर्बीज समाधि (विशेषणरहित समाधि)।

सम्प्रज्ञात् समाधि

समाधि की इस अवस्था में साधक ध्यान के विषय के प्रति सचेत रहता है। जब चित्त किसी विषय पर केन्द्रित होता है, तो चित्त–वृत्तियां उस विषय के आकार से आकारित होती हैं। यह सम्प्रज्ञात् समाधि कहलाती है। किसी एक विषय पर चित्त को एकाग्र करने से चित्त की प्रवृत्ति दूसरे विषयों से हट जाती है। चूंकि सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति के कारण ही दुःख उत्पन्न होता है इसलिए किसी सुनिश्चित विषय पर चित्त एकाग्र करने से सांसारिक सुखों के प्रति तृष्णा, उसके परिणामस्वरूप होने वाले क्लेश नष्ट हो जाते हैं। इससे विषय का वास्तविक स्वरूप प्रकाशित होता है और कर्म प्रवाह से मुक्ति मिल जाती है। सम्प्रज्ञात् समाधि चार प्रकार की बताई गई है।

सवितर्क समाधि

इस अवस्था में चित्त को किसी स्थूल विषय पर एकाग्र किया जाता है और ध्यानपूर्वक विषय की स्पष्ट प्रतीति की जाती है। जैसे–नासिका के अग्र भाग पर ध्यान लगाना आदि।

सविचार समाधि

इस अवस्था में चित्त को किसी सूक्ष्म विषय पर केन्द्रित किया जाता है और ध्यान से उनका वास्तविक स्वरूप पहचान लिया जाता है। जैसे– तन्मात्राओं (रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श) पर ध्यान लगाना।

सानन्द समाधि

इस अवस्था में किसी सात्विक सूक्ष्म विषय पर चित्त एकाग्र किया जाता है। परिणाम स्वरूप आनन्द की प्राप्ति होती है।

सास्मित समाधि

इस अवस्था में अहंकार–तत्व, जिसे प्रायः आत्मा समझा जाता है, पर चित्त केन्द्रित किया जाता है।

असम्प्रज्ञात् समाधि

यह समाधि की सर्वोच्च अवस्था है। इस अवस्था/स्तर में विषयी और विषय में कोई भेद नहीं रहता। सांसारिक जुड़ाव (राग) और दुःखों का लय हो जाता है। इसलिए इसे विशेषणरहित या निर्बीज समाधि कहते हैं।

योग के इन आठ अंगों में प्रथम पांच को योग का बहिरंग और शेष तीन को योग का अन्तरंग कहते हैं। वस्तुतः पूर्ववर्ती पांच चरण उत्तरवर्ती चरणों की ही पूर्व तैयारी है।

बोध प्रश्न 5

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. असम्प्रज्ञात् समाधि के विषय में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

19.9 योग दर्शनः ईश्वर एवं कैवल्य

योग–दर्शन के अनुसार ईश्वर कर्म के नियम, समस्त क्लेशों एवं समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्त हैं। यह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिशाली है। यह अनन्त ज्ञान एवं

आनन्द से युक्त है। उसका अस्तित्व समस्त सीमाओं से परे है। यह परम सत्ता है। यह अपने लिए कुछ नहीं करता बल्कि जो भी करता है यह विश्व के लिए करता है।

ईश्वर नित्य, दयालु, सर्वशक्तिशाली और सर्वभूतरत है इसलिए कर्म के बन्धनों से बंधा नहीं है। ईश्वर अनुभवातीत है। इसलिए, यह मुक्ति से भी परे है।

ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए योग–दर्शन के द्वारा तीन युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

1) शास्त्र प्राचीन हैं, लेकिन ईश्वर की सत्ता के संदर्भ के लिए हैं। वेद तथा उपनिषद् आदि ग्रन्थों में नित्य तथा सर्वोच्च सत्ता एवं जीवन–सार के रूप में ईश्वर का वर्णन किया गया है।

2) प्रकृति एवं पुरुष चूंकि एक दूसरे से भिन्न एवं विलक्षण हैं इसलिए बिना किसी निमित्त कारण के ये एक दूसरे के सम्पर्क में नहीं आ सकते। ईश्वर ही यह निमित्त कारण है। यह प्रकृति एवं पुरुष को एक दूसरे के समीप लाता है।

3) ईश्वर विशेषताओं (मन, बुद्धि, अहंकार) से रहित है। ईश्वर परम सत्ता है और विश्व के समस्त अधिष्ठानों का आधार है, ईश्वर पृथ्वी के समस्त जीवों का सृष्टा है। सम्पूर्ण जगत् इतना व्यापक है कि मनुष्य न तो इसे बना सकता है न ही इस पर नियंत्रण रख सकता है। अतः, ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

19.10 सारांश

सांख्य–दर्शन भारतीय दर्शन के प्राचीनतम सम्प्रदायों में से एक है। कपिल मुनि इस सम्प्रदाय के संस्थापक थे। यह द्वैतवादी दर्शन है क्योंकि यह प्रकृति एवं पुरुष नामक दो परम तत्वों की सत्ता स्वीकार करता है। यह सत्कार्यवाद को मानता है जिसके अनुसार कार्य उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान रहता है। सांख्य–दर्शन के अनुसार, प्रकृति नित्य, अचेतन एवं सक्रिय है। पुरुष नित्य, चेतन एवं निष्क्रिय है। प्रकृति में तीन गुण पाये जाते हैं– सत्त्व, रजस् एवं तमस्। यह सत्कार्यवाद का समर्थन करता है, जिसके अनुसार कार्य उत्पत्ति के पहले अपने कारण में विद्यमान रहता है। सांख्य दर्शन के अनुसार, बन्धन सांसारिक वस्तुओं के प्रति मोह के कारण है और कैवल्य/अपवर्ग सांसारिक दुःखों से मुक्ति है।

योग–दर्शन योग–सूत्रों पर आधारित है। चित्त योग के मनोविज्ञान का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। पुरुष के प्रतिबिम्ब के कारण चित्त सतत् परिवर्तित होता रहता है। इसे चित्त–वृत्ति कहते हैं। चित्त–वृत्तियों के कारण जीव कष्ट पाता है, जिसे योग दर्शन में क्लेश कहा जाता है। योग दर्शन में मुक्ति या मोक्ष को 'कैवल्य' कहा जाता है और मुक्त को 'केवली'।

19.11 कुंजी शब्द

चित्त : मनस्तत्व और मनस्थिति पक्ष को ही योग दर्शन में चित्त कहा गया है।

गुण : सांख्य दर्शन में गुण से तात्पर्य वस्तु में सामान्य धर्मों से नहीं है वरन यहां गुण प्रकृति की सार भूत सत्ता की प्रस्तुति करते हैं।

क्लेश : दुःखों के कारण को ही क्लेश कहा गया है।

19.12 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

कीथ, ए.बी. *द सांख्य सिस्टम.* ऑक्सफोर्ड: कलेरिन्टन प्रेस, 1918.

चटर्जी, एस.सी., दत्ता, डी. एम. *एन इन्ट्रोडक्शन टु इण्डियन फिलॉसोफी.* कलकत्ता यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता प्रेस, 1960.

जॉनसन, सी. *द योग सूत्र ऑफ पतंजलि.* लंदन: स्टुयर्ट एण्ड वैटकिन्स पब्लिकेशन, 1970.

दास गुप्ता, एस. एन. *द स्टडी ऑफ पतंजलि.* कलकत्ता: यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता प्रेस, 1920.

नटराजन, कांचना. "जेन्डरिंग ऑफ अर्ली इण्डियन फिलॉसोफी: अ स्टडी ऑफ सांख्यकारिका". इकोनोमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, 36 / 17(2011): 1398–1401.

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* ट्रान्सलेटिड बाइ ई बी कॉवेल एण्ड ए ई गोघ. देल्ही: भारतीय कला प्रकाशन, 2017.

हिरियण्णा एम. *द इसेन्शियल्स ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* लंदन: जार्ज एलेन एण्ड अन्विन प्रेस, 1932.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* अनुवाद– उमाशंकर शर्मा. वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, 2016.

सूरी, हरिभद्र. *षडदर्शनसमुच्चय.* अनुवाद– कामेश्वरनाथ मिश्र. वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1979.

19.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. प्रकृति के तीन गुण हैं, सत्त्व, रजस् एवं तमस्। *सत्त्व* प्रकाशक है, *रजस्* क्रियाशील है और *तमस्* जड़ता उत्पन्न करने वाला है। तीनों गुण मिलकर संसार की विभिन्न वस्तुओं को उत्पन्न करते हैं।

2. पुरुष नित्य, निष्क्रिय किन्तु शुद्ध चैतन्य से युक्त है। यह प्रकृति के भोगों का भोक्ता है। प्रकृति एवं पुरुष के सम्पर्क से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। प्रकृति एवं इसके गुणों से स्वयं को अलग कर पुरुष कैवल्य को प्राप्त कर लेता है।

बोध प्रश्न 2

1. महत् प्रकृति का प्रथम विकार है। महत् को बुद्धि भी कहते हैं। बुद्धि आत्मा को अपना स्वरूप पहचानने में सहायता करती है। आत्मा का स्वरूप सभी भौतिक वस्तुओं और उनके गुणों से भिन्न है।

बोध प्रश्न 3

1. योग के मनोविज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है 'चित्त'। चित्त से तात्पर्य सांख्य–दर्शन में तीन अन्तः कारणों से हैं – बुद्धि, अहंकार और मन। बुद्धि प्रकृति का प्रथम विकार है जिसमें सत्त्वगुण, रजस् और तमस् पर हावी है।

बोध प्रश्न 4

1. स्मृति अतीत के अनुभवों का पुनर्संचयन है। विभिन्न विषयों का ज्ञान होते समय हमारे चित्त पर पड़ने वाले संस्कारों के कारण ही यह पुनर्संचयन संभव होता है। स्मृति को योग–दर्शन में चित्तवृत्तियों का एक प्रकार माना गया है।

बोध प्रश्न 5

1. असम्प्रज्ञात् समाधि समाधि की सर्वोच्च अवस्था है। इस अवस्था में विषयी और विषय का भेद समाप्त हो जाता है। सांसारिक राग और दुःखों का लय हो जाता है। इसलिए इसे विशेषणरहित या निर्बीज समाधि भी कहते हैं।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 20 मीमांसा दर्शन[20]

रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 परिचय

20.2 ज्ञानमीमांसा

20.3 वैध ज्ञान के साधन (प्रमाण)

20.4 भ्रम–सिद्धान्त (ख्यातिवाद)

20.5 तत्त्वमीमांसा

20.6 आत्मा का स्वरूप

20.7 ईश्वर एवं मुक्ति

20.8 सारांश

20.9 कुंजी शब्द

20.10 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

20.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद छात्र स्वयं को सक्षम पायेंगे–

- ज्ञान की वैधता (यथार्थता) के विषय में बता पाने में,
- एक प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति पर विचार करने में,
- ख्यातिवाद (भ्रम–सिद्धान्त) के विश्लेषण में,
- आत्मा के स्वभाव की व्याख्या में, और
- मीमांसको की मोक्ष–धारणा पर विचार करने में।

20.1 परिचय

प्रस्तुत इकाई में मीमांसा दर्शन पर समग्रता में विचार किया जायेगा। यहाँ मीमांसकों की ज्ञान मीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया जायेगा। उनके भ्रम एवं कारणता सम्बन्धी सिद्धान्तों पर भी चर्चा की जायेगी। अपने स्वीकृत प्रमाणों के पक्ष में उनके द्वारा दिए गए तर्कों को विस्तार से बताया जायेगा।

[20] डॉ. सत्य सुन्दर सेठी, सह आचार्य, मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान विभाग, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, मद्रास, अनुवादक– श्री दिलीप जायसवाल, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मीमांसा दर्शन भारतीय दर्शन के प्रमुख सम्प्रदायों में से एक है। मीमांसा दर्शन की स्थापना 400 ई. पू. में जैमिनि द्वारा की गई। यह *मीमांसा–सूत्रों* के रचयिता थे। मीमांसा–सूत्रों पर मुख्य रूप से कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र ने भाष्य–ग्रन्थों की रचना की। न्याय–वैशेषिक एवं सांख्य योग की भांति मीमांसा–वेदान्त को भारतीय चिन्तन–परम्परा का अनुषांगी तन्त्र माना जाता है। मीमांसा का अर्थ है– 'पूजित विचार' अथवा यह 'जिज्ञासा या विश्लेषण' जिसका प्रयोग मूलतः वैदिक अनुष्ठानों के निर्वचन के लिए किया जाता है। वैदिक वाक्यों के निर्वचन के लिए कुमारिल भट्ट ने *अभिहितान्वयवाद* का सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जिसका तात्पर्य है कि शब्द (पद) अपना स्वतन्त्र अर्थ रखते हैं और वाक्य का अर्थ (वाक्यार्थ) शब्दार्थों का योग है। प्रभाकर ने *अन्विताभिधानवाद* का सिद्धान्त दिया। इसके अनुसार, शब्दों का कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता, शब्द किसी वाक्य में अर्थ व्यक्त करते हैं (क्रिया के सम्बन्ध से; उदाहरणार्थ, घड़ा शब्द क्रिया 'लाना' के सम्बन्ध में अर्थ रखता है।) मीमांसा का सम्बन्ध वेद के प्रारम्भिक भाग से है, इसलिए इसे पूर्व मीमांसा कहते हैं। वेद के प्रारम्भिक भाग का सम्बन्ध यज्ञ, अनुष्ठान एवं आहुतियों से है इसलिए इसे कर्मकाण्ड के नाम से जाना जाता है।

कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र ने मीमांसा दर्शन पर भाष्य ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनका उद्देश्य मीमांसा दर्शन को आस्तिकवाद की ओर अग्रसर करना था।

20.2 ज्ञानमीमांसा

ज्ञानमीमांसा का सम्बन्ध किसी वस्तु के ज्ञान से है। जब हमें किसी वस्तु का इन्द्रिय संवेदनपूर्वक बोध होता है, तब हमें उस वस्तु का ज्ञान होता है। वस्तु सम्बन्धी हमारा ज्ञान सही है कि नहीं, इसका निष्चय करने के लिए हमें निम्नोक्त चार बिन्दुओं को ध्यान में रखना होता है।

1) यह त्रुटिपूर्ण एवं अशुद्ध कारणों से न उत्पन्न हुआ हो।

2) यह ज्ञान बाधरहित होना चाहिए अर्थात् यह आत्म–संगत होना चाहिए, जिसका आगे आने वाले किसी ज्ञान से बाध न हो।

3) यह वस्तु की इस प्रकार की प्रतीति हो, जो प्रतीति पहले न हुई हो। संक्षेप में, यह ज्ञान पूर्व में अज्ञात वस्तु का अर्थात् नया ज्ञान होना चाहिए।

4) यह ज्ञान निश्चित रूप से वस्तु या विषय का प्रतिनिधित्व करता हो।

उपरोक्त शर्तों के पूरा होने पर ही वस्तु सम्बन्धी हमारा ज्ञान यैध (यथार्थ) कहा जा सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्मृति यथार्थ ज्ञान की कोटि में नहीं आती क्योंकि यह पूर्व ज्ञान के संस्कार से उत्पन्न होती है। इस स्थिति में तीसरी शर्त का उल्लंघन होता है।

ज्ञान की प्रामाणिकता

कुमारिल ज्ञान को अनुभूति मानते हैं। अनुभूति स्वतः प्रकाश होती है। अतः ज्ञान की अनुभूति, जो अपना प्रमाण स्वयं होती है, के ज्ञान से ज्ञातता उत्पन्न होती है जो ज्ञान की प्रामाणिकता का आधार होती है। प्रभाकर के अनुसार स्वतः प्रकाश अनुभूति ही ज्ञान का कारण होती है जो संस्कारजन्य स्मृति से भिन्न होती है। प्रभाकर के अनुसार प्रमा और प्रमाण में अभेद होता है। ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है, यह ज्ञेय वस्तु की ज्ञातता से अनुमेय (अनुमान से जाना गया) नहीं होता है। इस प्रकार समस्त ज्ञान प्रामाणिक होते हैं। ज्ञान की

अप्रामाणिकता ज्ञेय वस्तु के वास्तविक स्वभाव से असन्वादिता होने के कारण होती है। अतः असत्यता ज्ञान से सम्बन्धित नहीं होती है वरन् यह ज्ञेय (विषय) से सम्बन्धित होती है। इस सम्बन्ध में मीमांसा–दर्शन दो सिद्धान्तों पर विचार करता है– स्वतः प्रामाण्यवाद और परतः अप्रामाण्यवाद। स्वतः प्रामाण्यवाद के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है। ज्ञान की प्रामाणिकता ज्ञान जनक सामग्री से उत्पन्न होती है किसी बाहरी कारण से नहीं। परतः प्रामाण्यवाद के अनुसार, ज्ञान स्वतः प्रमाण नहीं होता और ज्ञान की प्रामाणिकता बाहरी कारणों पर निर्भर है।

इस प्रकार ज्ञान की प्रामाणिकता एवं अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में कुल चार पक्ष सामने आते हैं –

1) स्वतः प्रामाण्यवाद

2) स्वतः अप्रामाण्यवाद

3) परतः प्रामाण्यवाद

4) परतः अप्रामाण्यवाद

मीमांसा (कुमारिल भट्ट) स्वतः प्रामाण्यवाद और परतः अप्रामाण्यवाद को मानता है, उसके अनुसार, ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है अर्थात् ज्ञान की प्रामाणिकता कारण–दोष–रहित वस्तु की ज्ञान–जनक–सामग्री से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार ज्ञान की अप्रमाणिकता वस्तु के कारणगत दोषों के कारण होती है। सांख्य दर्शन स्वतः प्रामाण्यवाद और स्वतः अप्रामाण्यवाद को मानता है। इसके अनुसार ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता दोनों ही आन्तरिक होती है।

बौद्ध स्वतः अप्रामाण्यवाद और परतः प्रामाण्यवाद को मानते हैं। ये ज्ञान की प्रमाणिकता को बाह्य और ज्ञान की अप्रामाणिकता को आन्तरिक मानते हैं। इनके अनुसार, ज्ञान स्वयं में अप्रामाणिक होता है और इसकी प्रामाणिकता बाहरी कारणों से निश्चित होती है। ज्ञान अपने उत्पत्ति के क्षणों में वस्तु का यथार्थ बोध नहीं करा सकता। यह उन क्षणों में अनिश्चित एवं विरोधाभासी होता है और इस प्रकार अप्रामाणिक होता है। इसकी प्रामाणिकता का ज्ञान बाद में इसके कारण–गुणों के ज्ञान से, वस्तु के यथार्थ स्वरूप से संगति के ज्ञान से अथवा अर्थक्रियाकारित्व के ज्ञान से होता है। इस प्रकार ज्ञान स्वयं में अप्रामाणिक होता है।

न्याय–वैशेषिक दर्शन परतः प्रामाण्यवाद और परतः अप्रामाण्यवाद को मानते हैं जिसके अनुसार ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता दोनो बाह्य कारणों पर आधारित होती है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. स्वतः प्रामाण्यवाद की व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

.....

20.3 वैध ज्ञान के साधन (प्रमाण)

कुमारिल भट्ट छः प्रमाणों को मानते हैं–

1) प्रत्यक्ष
2) अनुमान
3) उपमान
4) शब्द
5) अर्थापत्ति
6) अनुपलब्धि

प्रभाकर अनुपलब्धि को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार अभाव (अनुपलब्धि) एक स्वतन्त्र प्रमाण की कोटि में नहीं आ सकता। यह केवल दूसरे प्रमाणों द्वारा प्राप्त विधायी तत्यों से असंगति की स्थिति है। इस प्रकार प्रभाकर पाँच प्रमाणों को मानते हैं। अब इन उपरोक्त प्रमाणों का क्रमबद्ध वर्णन किया जायेगा।

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष ज्ञान का वह प्रकार है जो ज्ञानेन्द्रियों एवं वस्तु के संपर्क से उत्पन्न होता है। सामान्य रूप से हमारा यह विश्वास होता है कि हम इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ भी जानते हैं, वह अवश्य सत्य होता है क्योंकि प्रत्यक्ष में इन्द्रियों द्वारा वस्तुओं की साक्षात प्रतीति होती है। जैसे कि एक मेज को छूकर और देखकर हमें मेज का ज्ञान हो जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान वैध तभी होता है जब वस्तु जिस रूप में होती है, उसी रूप में हमें उसका ज्ञान प्राप्त होता है।

नैयायिकों के समान मीमांसकों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रत्यक्ष को विभिन्न प्रकारों में वर्गीकृत किया है। सर्वप्रथम प्रत्यक्ष को दो प्रकारों में वर्गीकृत किया गया– लौकिक एवं अलौकिक प्रत्यक्ष। जब ज्ञानेन्द्रियाँ साधारण ढंग से वस्तु के सम्पर्क में आती हैं, तो हमें लौकिक प्रत्यक्ष होता हैं सविकल्पक एवं निर्विकल्पक भेद से लौकिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है। इन दोनों प्रत्यक्ष का विस्तृत विश्लेषण इस खण्ड की प्रथम इकाई न्याय दर्शन में किया जा चुका है। अलौकिक प्रत्यक्ष की स्थिति में ज्ञानेन्द्रियां साधारण ढंग से वस्तुओं के सम्पर्क में नहीं आती हैं, बल्कि किसी असाधारण माध्यम से वस्तु का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष के विषय में न्याय एवं मीमांसा दर्शन के मध्य मूलभूत अन्तर यह है कि नैयायिक श्रवणेन्द्रिय को आकाश से उत्पन्न मानते हैं जबकि मीमांसक इसे दिक् (दिशा या स्थान) से उत्पन्न मानते हैं।

अनुमान

दूसरे प्रकार के प्रमाण को अनुमान कहते हैं। अनुमान एक ऐसा ज्ञान है, जो पूर्ववर्ती ज्ञान पर आधारित होता है। प्रत्यक्ष में हमें किसी वस्तु का साक्षात् ज्ञान होता है, क्योंकि वहां ज्ञेय वस्तु इन्द्रियों के समक्ष साक्षात् विद्यमान रहती है।

अनुमान में ज्ञेय वस्तु साक्षात् विद्यमान नहीं रहती अतः इसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं। अनुमान में किसी विशेष स्थिति में वस्तु की सत्ता का अनुमान इस आधार पर किया जाता है कि पूर्व में सभी समान स्थितियों में वस्तु की सत्ता अव्यभिचारित (बिना किसी विरूपण या व्यभिचार के; जैसी वैसी ही) रूप में देखी गयी है। इस प्रकार अनुमान में होने वाला ज्ञान वस्तु के

पूर्व ज्ञान पर आधारित होता है। जैसे जब हम दूर किसी पहाड़ी पर धुंआ देखते हैं, तो धुंआ को देखकर हम तुरन्त यह अनुमान लगा लेते हैं कि पहाड़ी पर आग जरूर होगी।

उपमान

नैयायिकों के समान मीमांसकों ने भी उपमान को एक प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। उपमान में किसी वस्तु का होने वाला ज्ञान दूसरी समान वस्तुओं से तुलना पर आधारित होता है। जैसे किसी व्यक्ति ने नीलगाय न देखी हो और उसे यह पता न हो कि नीलगाय कैसी होती है। अब यदि उसे कोई बताता है कि नीलगाय गाय जैसी होती है बस यह थोड़ी उग्र होती है और उसके आगे की ओर बड़ी सींगें होती हैं। बाद में यह व्यक्ति जंगल में नीलगाय देखता है और बताए गए विवरणों के आधार पर पहचान लेता है कि यह नीलगाय है। यह ज्ञान तुलना अथवा उपमान के द्वारा ही संभव हो सका है, इस प्रकार उपमान एक नाम (संज्ञा) और उस नाम से इंगित वस्तु (संज्ञी) के मध्य के सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

शब्द

न्याय दर्शन के समान मीमांसा दर्शन के अनुसार किसी आप्तपुरुष के विश्वसनीय शब्द स्वयं में वैध ज्ञान प्राप्त कराते हैं। पदों के समूह को वाक्य कहा जाता है। पद यह है जिसमें अर्थ को व्यक्त करने की शक्ति होती है। शब्द पद अथवा वाक्य से निष्पन्न प्रामाणिक ज्ञान है। किन्तु सभी प्रकार के पद अथवा वाक्य शब्द प्रमाण की कोटि में नहीं आते हैं क्योंकि समस्त भाषिक अभिव्यक्तियों को अनिवार्य रूप से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इसलिए, मीमांसकों के अनुसार शब्द प्रमाण किसी आप्त अर्थात् विश्वसनीय व्यक्ति के वचनों पर आधारित होना चाहिए जो सत्य जानता हो तथा दूसरों के मार्गदर्शन के लिए सत्य ही कहने की इच्छा रखता हो।

शब्द प्रमाण अर्थपूर्ण पद अथवा वाक्य के रूप में प्रयुक्त होता है। किन्हीं वर्णों अथवा शब्दों के मेल से ही प्रामाणिक एवं शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती, इसलिए स्पष्ट आशय वाले शब्द एवं वाक्य ही शुद्ध प्रमाण की कोटि में आते हैं।

अर्थापत्ति

यह मीमांसकों के द्वारा मान्य वैध ज्ञान का एक विशिष्ट साधन है। 'अर्थापत्ति' पद दो पदों 'अर्थ' और 'आपत्ति' से मिलकर बना है। अर्थ पद का तात्पर्य है तथ्य और आपत्ति पद का तात्पर्य है 'कल्पना'। इस प्रकार शब्दार्थमीमांसा के अनुसार, अर्थापत्ति यह ज्ञान जो दो विरोधी तथ्यों के मध्य के विरोध को दूर (परिहार) करता है।

अर्थापत्ति अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) तथ्य की कल्पना है जिसके द्वारा आपाततः दो असंगत दिखाई पड़ने वाले तथ्यों में संगति स्थापित की जाती है। जब ज्ञात तथ्यों में से एक की पुष्टि दूसरे के द्वारा न हो, तब हमें एक तीसरे तथ्य की कल्पना करनी पड़ती है। इसी तीसरे तथ्य का वैध एवं सिद्ध (प्रामाणिक) ज्ञान अर्थापत्ति कहलाता है।

उदाहरण के लिए, देवदत्त मोटा है किन्तु यह दिन में उपवास करता है। इस आधार वाक्य में हम दो तथ्य पाते हैं। एक, देवदत्त एक जीवित मनुष्य है और यह मोटा है। दूसरा यह कि यह दिन में नहीं खाता है। इस विरोधाभास को सुलझाने के लिए कि किस प्रकार एक मनुष्य मोटा है जबकि यह दिन में कुछ भी नहीं खाता है, इस तीसरे तथ्य की कल्पना कर ली जाती है कि यह रात में अवश्य खाता होगा। एक दूसरे उदाहरण में, 'राम जीवित है, किन्तु यह घर में नहीं है।' इस विरोधाभास को समाप्त करने के लिए हम इस तथ्य की

कल्पना करते हैं कि राम किराये के घर में अपने घर से बाहर रहता होगा। यह कल्पना ही यैव ज्ञान का साधन अर्थात् प्रमाण है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. प्रमाण के रूप में 'अर्थापत्ति' की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

अनुपलब्धि

यह मीमांसा दर्शन द्वारा स्वीकृत एक स्वतन्त्र प्रमाण है। अनुपलब्धि किसी वस्तु के अभाव का साक्षात् ज्ञान है। वस्तु किसी विशिष्ट देश एवं विशिष्ट काल में विद्यमान न रहकर कहीं अन्यत्र विद्यमान रहती है। किसी प्रदत्त स्थिति/स्थान में किसी विशिष्ट वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष करना अनुपलब्धि कहलाता है।

उदाहरण के लिए, 'मेज के ऊपर पुस्तक नहीं है'। एक व्यक्ति अपनी इन्द्रियों से पुस्तक का सीधा प्रत्यक्ष नहीं करता है। लेकिन मेज पर पुस्तक के अभाव या न होने का ज्ञान प्रत्यक्षमान वस्तु के प्रत्यक्ष न होने के कारण होता है। किसी वस्तु को जहाँ या जिस स्थिति में होना चाहिए वहाँ उपलब्ध न होना उस वस्तु का अभाव कहलाता है। और किसी वस्तु के अभाव का भावरूप में ज्ञान अनुपलब्धि कहलाता है।

20.4 भ्रम–सिद्धान्त (ख्यातिवाद)

भ्रम के सिद्धान्त को ख्यातिवाद कहते हैं। यह प्रामाण्यवाद के विपरीत है। ख्यातिवाद का सम्बन्ध मिथ्या अथवा अयथार्थ ज्ञान (भ्रमात्मक ज्ञान) से है। सामान्यतः ख्याति का अर्थ ज्ञान या संज्ञा है। इससे पूर्व कि हम विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा प्रतिपादित भ्रम–सिद्धान्तों की चर्चा करें, यह जान लेना चाहिए कि 'भ्रम क्या है?'

भ्रम (विपर्यय)

भ्रम प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान (प्रमा) के विपरीत है। प्रमा की स्थिति में ज्ञेय वस्तु अपने यथार्थ स्वरूप में विद्यमान रहती है किन्तु भ्रम की स्थिति में ज्ञेय वस्तु अपने वास्तविक स्वरूप में नहीं रहती है। भ्रम की स्थिति में ज्ञेय वस्तु में कुछ ऐसे गुण–धर्मों का ज्ञान होता है जो उस वस्तु में होते ही नहीं हैं। इस प्रकार यह वस्तु का यह समझ लिया जाना है, जो यह वस्तुतः है नहीं। समस्त भ्रम अपनी प्रकृति में विषयीनिष्ठ होते हैं। जैसे एक रस्सी

को भ्रम में सांप समझ लिया जाना। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि सांप के कुछ गुण धर्म रस्सी में भी पाये जाते हैं। इस प्रकार सीपी को चांदी समझ लिया जाना भी भ्रमज्ञान का एक उदाहरण है।

बोध प्रश्न 3

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. भ्रम क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

मीमांसा के प्रभाकर सम्प्रदाय और अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा क्रमशः 'अख्यातिवाद' और अनिर्वचनीयख्यातिवाद का प्रतिपादन किया गया है। कुमारिल भट्ट का भ्रम सिद्धान्त 'विपरीतख्यातिवाद' कहलाता है। न्याय दर्शन ने 'अन्यथाख्यातिवाद' को स्वीकार किया। सांख्य दर्शन और रामानुज ने 'सत्ख्यातिवाद' को स्वीकारते हैं। परवर्ती सांख्य और जैन दर्शन ने 'सदसत्ख्यातिवाद' का समर्थन किया, शून्यवाद ने 'असत्ख्यातिवाद' को और विज्ञानवाद ने 'आत्मख्यातिवाद' का समर्थन किया। आइए देखते हैं कि उन्होंने अपने भ्रम–सिद्धान्तों की स्थापना किस प्रकार की है।

अख्यातिवाद

इस भ्रम–सिद्धान्त का प्रतिपादन मीमांसा के प्राभाकर सम्प्रदाय के द्वारा किया गया। इसे विवेकख्याति भी कहते हैं। प्रभाकर के अनुसार, 'अयथार्थ ज्ञान या संज्ञा' कुछ नहीं होता। कोई ज्ञान या संज्ञा विशेष अपूर्ण अथवा आंशिक हो सकता है किन्तु अयथार्थ नहीं हो सकता। भ्रम–ज्ञान की स्थिति में दो भिन्न–भिन्न प्रकार का ज्ञान होता है।

1) यथार्थ ज्ञान या यथार्थ संज्ञा
2) स्मृति

प्रभाकर ने भ्रमात्मक ज्ञान की कोई तीसरी कोटि स्वीकार नहीं की है क्योंकि भ्रमात्मक ज्ञान इन्हीं दो उपरोक्त ज्ञानों से मिलकर पैदा होता है।

जैसे– यह चांदी है। यहाँ 'यह' का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जबकि 'चांदी' का स्मरण ज्ञान (स्मर्यमाण) होता है। यहाँ 'यह' का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है क्योंकि सामने विद्यमान वस्तु, उदाहरण के लिए, सीपी के साथ इन्द्रिय–सन्निकर्ष हो रहा हैं। यहीं चांदी का ज्ञान स्मृति में है जो हमारे इन्द्रिय संस्कारों से उत्पन्न होता है। यहाँ ज्ञाता सीपी के प्रत्यक्ष ज्ञान और चांदी के स्मृति जन्य ज्ञान में भेद नहीं कर पाता है। इस भेद को ग्रहण न कर पाने कारण वस्तु का ज्ञान भ्रमात्मक कहलाता है। इसलिए सीपी की प्रतीति चांदी के रूप में होती है।

अनिर्वचनीय ख्यातिवाद

यह भ्रम–सिद्धान्त अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसके अनुसार हमें अविद्या के कारण किसी वस्तु की इन्द्रिय–प्रतीति होती है। अविद्या के कारण ज्ञाता वस्तु को यथार्थ रूप में न जानकार किसी अन्य रूप में जानता है।

उदाहरणार्थ, हमारा सीपी को चांदी समझ लेना। इस स्थिति में हम चांदी के ज्ञान को सीपी पर आरोपित कर देते हैं। अतः यह भ्रमात्मक या मिथ्या है। अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि, अगले क्षण में वस्तु का ज्ञान परिवर्तित हो जाने के कारण इस संसार में कुछ भी सत् या वास्तविक नहीं है। अहं–प्रत्यय अर्थात् 'मैं–पन' के कारण ही हमें प्रत्यक्ष वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्रतीत होता है। जबकि तथ्य यह है कि केवल एक मात्र ब्रह्म की सत्ता है जो नित्य है और परिवर्तनों से रहित है। इसलिए हमें जिस किसी भी वस्तु का ज्ञान होता है, वह यथार्थ नहीं होती है।

अतः जगत् अर्थात् सृष्टि के स्वरूप को अनिर्वचनीय बतलाया गया है। यह विचार यह अन्तर्निहित करता है कि सीपी अथवा चांदी किसी भी ज्ञान को यथार्थ नहीं कहा जा सकता। इसलिए यह भ्रम–सिद्धान्त अनिर्वचनीय कहलाता है।

विपरीतख्यातिवाद

मीमांसा का भट्ट सम्प्रदाय विपरीतख्यातिवाद का समर्थक है। इस विचार के अनुसार, इन्द्रिय एवं वस्तु के बीच त्रुटिपूर्ण सम्बन्ध के कारण भ्रम उत्पन्न होता है। भ्रम वस्तुओं के कारण उत्पन्न नहीं होता जो कि यथार्थ होती है। जैसे संसार के अलग–अलग भागों में लोग समान चन्द्रमा को देखकर यह दावा करें कि वे भिन्न–भिन्न चन्द्रमा को देख रहे हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार भ्रम ज्ञान वस्तुतः वस्तु के प्रति भ्रमपूर्ण दृष्टि का परिणाम है। उनके लिए भ्रम अन्यथा या अयथार्थ ग्रहण है।

अन्यथाख्यातिवाद

न्याय दर्शन विश्वास करता है कि भ्रम अन्यथा ग्रहण है। यह कुमारिल के विपरीतख्याति के समान है। नैयायिक कहते हैं कि प्रस्तुत (वर्तमान) वस्तु अन्यथा (दूसरी तरह से) देखी जाती है और स्मर्यमाण (प्रतिनिध्यात्मक) वस्तु अन्यत्र (दूसरी जगह) देखी जाती है। उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति शैल के स्थान पर चांदी को गलती से देखता (प्रत्यक्ष) है, तब यह (सामने प्रस्तुत) शैल को (प्रतिनिध्यात्मक) चांदी की तरह देखता है (अन्यथा) और चांदी को दूसरी जगह (अन्यत्र) देखता है। चांदी का स्मृति में प्रकट होना ज्ञानलक्षणप्रत्यक्ष के कारण है। कुमारिल इस तरह के प्रत्यक्ष को स्वीकार नहीं करते हैं।

सत्ख्यातिवाद

रामानुज का मानना है कि भ्रम अग्रहण है। प्रभाकर के समान, ये विश्वास करते हैं कि भ्रम अपूर्ण है न कि अज्ञान। यह आंशिक सत्य है। उनके लिए, प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं के गुणों को रखती है, इसलिए भ्रम उत्पन्न होता है। इसके लिए, ये त्रिवृत् करण या पंचीकरण को स्वीकारते हैं। शैल चांदी की तरह आभासित होता है, क्योंकि चांदी का कुछ गुण (अंश) सीपी में पाया जाता है। इसी कारण से, यह सिद्धान्त यथार्थख्याति अथवा अख्याति–संयलितसत्ख्याति कहलाता है।

असत्ख्यातिवाद

शून्यवादी के लिए सत् शून्य है। शून्य का तात्पर्य है स्वतन्त्र (निरपेक्ष) उत्पत्ति न होना। अतः उनके लिए भ्रम का अर्थ है कि ज्ञेय असत् है, क्योंकि सत् शून्य है।

आत्मख्यातिवाद

विज्ञानवादी के अनुसार भ्रम कथित बाह्य वस्तु (बाह्यार्थ) पर विज्ञान (संज्ञा या ज्ञान का आकार) का आरोपण (अध्यास) है। वास्तविकता में, बाह्यार्थ असत् है।

सदसत्ख्यातिवाद

परवर्ती सांख्य (सांख्यसूत्र) और जैन दर्शन का मानना है कि वस्तु का भ्रमात्मक ज्ञान सत् है लेकिन ज्ञान का संश्लेषण असत् है।

अभिनव अन्यथाख्यातिवाद

मध्य का ख्यातिवाद अभिनव अन्यथाख्याति कहा जाता है। वास्तविक चांदी का भूतकाल में हुआ अनुभव जिसका मन पर एक संस्कार बन गया है, कुछ विशेष दोषों के कारण, सीपी को देखकर उद्भूत हो जाता है। सीपी पर देखी गई चांदी का अस्तित्व नहीं है। चांदी के मनःसंस्कार एवं सीपी के मध्य भ्रम के कारण चांदी का भ्रम उत्पन्न होता है।

20.5 तत्त्वमीमांसा

मीमांसा दर्शन नित्य जगत् एवं उसमें (उस जगत् में) असंख्य जीवात्माओं की सत्ता में विश्वास करता है। ये अन्य नित्य एवं अपरिमित पदार्थों के अस्तित्व को भी स्वीकारते हैं। मीमांसकों का विचार है किजगत् तीन तत्वों से निर्मित है– शरीर, इन्द्रिय एवं बाह्य वस्तुएं। शरीरस्थ आत्मा कर्म–फलों का भोक्ता है। इन्द्रियां सुख–दुख को भोगने का साधन हैं। बाह्य वस्तुएं भोग्य पदार्थ हैं। इन तत्वों के अतिरिक्त मीमांसक स्वर्ग, नरक आदि के अस्तित्व को मानते हैं, यद्यपि ये प्रत्यक्ष (दृश्यमान) नहीं हैं। मीमांसकों को बहुलवादी वस्तुवादी कहा जाता है।

मीमांसक इस बात से सहमत हैं कि विश्व अर्थात् संसार की सृष्टि और लय हमारे कर्मों पर आधारित हैं। इसलिए ये सृष्टि के लिए ईश्वर के अस्तित्व की सम्भावना को नकार देते हैं। उनके लिए, ईश्वर वह अदृष्ट शक्ति है जो निश्चित समय/अवधि में निश्चित कर्मों को करने का मार्गदर्शन/निर्देश देती है।

मीमांसा का प्रभाकर सम्प्रदाय कुल आठ पदार्थों की सत्ता मानता है; द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। कुमारिल भट्ट इन आठ भाव पदार्थों में से प्रथम चार पदार्थों द्रव्य, गुण, सामान्य और कर्म को स्वीकारते हैं इसके अतिरिक्त, कुमारिल अभाव को अपनी सूची में सम्मिलित करते हैं।

कारणता–सिद्धान्त

मीमांसा दर्शन का कारणता–सिद्धान्त अपूर्व की शक्ति पर आधारित है। इसके अनुसार, प्रत्येक कारण में अपूर्व नामक शक्ति निहित रहती है। इसके परिणाम स्वरूप एक विशिष्ट कारण एक विशिष्ट कार्य को जन्म देता है। इस प्रकार किसी भी परिघटना की व्याख्या उसके कारण में विद्यमान शक्ति के द्वारा की जा सकती है। यदि शक्ति का अभाव हो तो कार्य भी उत्पन्न नहीं होगा। एक उदाहरण के द्वारा इसे समझा जा सकता है। यदि हम किसी बीज को भूनकर जमीन में बो दें, तो यह अंकुरित नहीं हो सकेगा। इसका कारण यह है कि बीज की शक्ति भुनने के क्रम में नष्ट हो जाती है।

20.6 आत्म का स्वरूप

मीमांसक संसार में असंख्य आत्माओं के अस्तित्व को मानते हैं। उनके अनुसार आत्माएं दो प्रकार की होती हैं। एक मुक्त आत्माएं और दूसरी जिन्हें अभी मुक्ति नहीं मिली है। इसमें यह अन्तर्निहित है कि प्रत्येक जीवित प्राणी एक भिन्न आत्मा धारण करता है। मीमांसकों के लिए, आत्मा नित्य एवं अविनाशी है। जब किसी जीवित प्राणी की मृत्यु होती है, तब आत्मा मृत्यु के साथ नष्ट नहीं हो जाता है, बल्कि पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए पुनः जन्म लेता है। मीमांसकों के अनुसार, चेतना आत्मा का स्वरूप या अनिवार्य धर्म नहीं है। मीमांसक चेतना को आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं। यह गुण विशिष्ट स्थितियों में उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, गहरी निद्रा में आत्मा में इसलिए चेतना नहीं पाई जाती है क्योंकि इस अवस्था में इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क टूटा होता है।

कुमारिल के अनुसार, हमें आत्मा का ज्ञान उस प्रकार नहीं हो सकता, जिस प्रकार हमें बाह्य वस्तुओं, पेड़, पशु–पक्षी आदि, का ज्ञान होता है। कुमारिल ने आत्मा को स्वप्रकाश बताया है। जब हम आत्मा पर ध्यान केन्द्रित करते हैं तो 'मैं हूँ' इस प्रकार की आत्मा–प्रतीति होती है। इस मत का खण्डन करते हुए प्रभाकर मिश्र का यह कहना है कि आत्मा किसी एक ही ज्ञान का विषयी और विषय दोनों नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि कोई भी वस्तु एक ही समय में कर्ता और क्रिया दोनों नहीं हो सकतीं। कर्ता एवं क्रिया–दोनों का व्यापार एक दूसरे से नितान्त भिन्न होता है। प्रभाकर के अनुसार, किसी भी यथार्थ ज्ञान के कुल तीन घटक होते हैं– ज्ञाता, ज्ञेय ओर ज्ञान। किसी वस्तु का ज्ञान होते समय ये तीनों घटक एक साथ प्रकाशित होते हैं। उदाहरणार्थ– मैं इस मेज को जानता हूँ।' इस उदाहरण में 'मैं' ज्ञाता है, मेज ज्ञेय है और ज्ञान यह है जो मेज के विषय में प्राप्त होता है।

बोध प्रश्न 4

ध्यातव्यः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. मीमांसकों के आत्मा सम्बन्धी विचार का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

20.7 ईश्वर एवं मुक्ति

मीमांसा दर्शन ने ईश्वर की अपेक्षा वेद को अधिक महत्व दिया है। वेद ऐसे शाश्वत नियमों का विधान करते हैं, जिसके अनुकूल आचरण कर व्यक्ति सुखी एवं स्वस्थ जीवन प्राप्त कर सकता है। ईश्वर मात्र कर्मकण्डों में प्रदान की जाने वाली आहुतियों से सम्बन्धित

(आहुतियों का नाम) है। ये यज्ञ को जीवन में आनन्द प्राप्त करने के उच्चतम साधन के रूप में स्वीकारते हैं। यज्ञ ईश्वर की आराधना के लिए नहीं हैं, अपितु अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए हैं।

इस पृथ्वी पर जीवित प्राणियों द्वारा दो तरह के कार्य किये जाते हैं। पहला, कुछ सांसारिक सुख पाने के लिए किये गये कर्म। दूसरा, वेदविहित कर्म। जब तक कर्म हैं, तब तक सांसारिक वस्तुओं से जुड़ाव है, और इसलिए दुःख है। समस्त दुःखों से मुक्ति के लिए, मोक्ष प्राप्त करना होगा। मीमांसकों का यह मानना है कि सांसारिक सुखों के प्रति आसक्ति और तदनुरूप किए कर्मों के कारण जीवात्मा जन्म–मरण के चक्र में घूमती रहती है। मोक्ष की प्राप्ति तभी होती है जब आत्मा शरीर, मन, इन्द्रिय और सांसारिक वस्तुओं के बन्धन से मुक्त हो जाती है। मुक्ति की दशा में चेतना से विरहित होने के कारण आत्मा सुख–दुःख का अनुभव नहीं कर सकती।

इसलिए मीमांसकों के लिए मोक्ष आनन्द की अवस्था नहीं है। यह एक ऐसी अवस्था है जहाँ आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेती है और सांसारिक सुख–दुःखों से सदा के लिए मुक्त हो जाती है।

20.8 सारांश

जैमिनि मीमांसा सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। उन्होंने मीमांसासूत्र की रचना की। अनेक भाष्यकारों में कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र प्रसिद्ध भाष्यकार हैं।

ज्ञानमीमांसा

यथार्थ ज्ञान यह है जो दोषपूर्ण साधनों से उत्पन्न नहीं होता अर्थात् बाधरहित होता है और वस्तु का यथावत ज्ञान कराता है। मीमांसा दर्शन ने स्वतः प्रामाण्यवाद और परतः प्रमाण्यवाद की चर्चा की।

तत्त्वमीमांसा

मीमांसा–दर्शन बहुतत्ववादी (बहुलवादी) एवं वस्तुवादी है क्योंकि इसके अनुसार विश्व में असंख्य वस्तुओं की सत्ता है। विश्व में अपरिमित एवं नित्य आत्माएं विद्यमान हैं। आत्माएं दो प्रकार की होती हैं; एक मुक्त आत्मा एवं दूसरी जीवित (शरीरी) आत्मा। इस प्रकार, जितने शरीर हैं, उतनी आत्माएं मानी गई हैं। इसके अतिरिक्त, मीमांसक स्वर्ग, नरक आदि के अस्तित्व में भी विश्वास करते हैं।

20.9 कुंजी शब्द

सूत्र : भारतीय दर्शन में सूत्र वस्तुतः विषय–प्रतिपादन की यह पद्धति है जिसमें अत्यन्त संक्षेप में, कम से कम शब्दों में सारगर्भित ढंग से बात कही जाती है। सूत्र का शाब्दिक अर्थ है; धागा।

कर्मकाण्ड : वैदिक साहित्य के संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों के यज्ञीय विधि–विधानों एवं अन्य अनुष्ठानिक कृत्यों से सम्बन्धित भाग को कर्मकाण्ड कहा जाता है।

20.10 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* ट्रान्सलेटिड बाइ ई बी कॉवेल एण्ड ए ई गॉग. देल्हीः भारतीय कला प्रकाशन, 2017.

राधाकृष्णन, एस. *इण्डियन फिलॉसोफी,* वोल्यू–2. लंदनः जॉर्ज एलेन एण्ड यूनियन पब्लिकेशन, 1927.

शर्मा, सी.डी. *ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन, 1964.

सिन्हा, जे. *इण्डियन रियलिज्म.* लंदनः केगन पॉल पब्लिकेशन, 1938.

हिरियण्णा, एस. *आउटलाइन ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* जॉर्ज एलेन एण्ड यूनियन पब्लिकेशन, 1932.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* अनुवाद– उमाशंकर शर्मा. वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन, 2016.

सूरी, हरिभद्र. *षडदर्शनसमुच्चय.* अनुवाद– कामेश्वरनाथ मिश्र. वाराणसीः चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1979.

शर्मा, अम्बिकादत्त. "अथ स्वतः परतः प्रामाण्य परीक्ष्यते". *उन्मीलन,* 30/2(2016): 57–75.

20.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. स्वतः प्रामाण्यवाद का अर्थ है, किसी ज्ञान को स्वयं में प्रमाण मानना। इसके अनुसार ज्ञान कारण–दोषों से रहित होकर अपने कारणों से स्वतः उत्पन्न होता है और अपने ज्ञान के द्वारा ही यह जाना जाता है। बाह्य सामग्री से नहीं, अपितु स्वयं ज्ञान को उत्पन्न करने वाली कारण–सामग्री से ज्ञान की प्रमाणिकता उत्पन्न होना, ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य है।

बोध प्रश्न 2

1. अर्थापत्ति एक ऐसी अदृष्ट कल्पना है जिसका प्रयोग दो दृष्ट तथ्यों में प्रतीयमान असंगति को दूर करने के लिए किया जाता है। जब दो ज्ञात तथ्य स्वयं को व्याख्यायित करने में समर्थ न हो तो तीसरे तथ्य की कल्पना करनी पड़ी है। इस तीसरे तथ्य के वैध और प्रमाणित ज्ञान को ही अर्थापत्ति कहते हैं।

बोध प्रश्न 3

1. समस्त भ्रम–ज्ञान विषयीनिष्ठ होते हैं। भ्रम की दशा में हमें वस्तु का अयथार्थ ज्ञान होता है। हमें वस्तु के ऐसे गुण धर्म का ज्ञान होता है जो वस्तु में पाया नहीं जाता। इस प्रकार, यह अन्यथा या अयथार्थ ग्रहण है, जिसमें वस्तु जैसी यो है उससे भिन्न ग्रहण की जाती है। सीपी को देखकर चाँदी समझ लेना भ्रमज्ञान का उदाहरण है।

बोध प्रश्न 4

1. मीमांसकों के अनुसार विश्व में असंख्य आत्माएं हैं। आत्माएं दो प्रकार की हैं। मुक्त आत्माएं और शरीरी जीवात्माएं। इससे पता चलता है कि प्रत्येक जीवधारी एक विशिष्ट आत्मा से युक्त होता हैं मीमांसकों के अनुसार आत्मा नित्य एवं अविनाशी है। जब कोई जीव मरता है तब आत्मा मरती नहीं बल्कि यह कर्मफलों के भोग के लिए जीवित रहती है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 21 वेदान्तः शंकर, मध्व, रामानुज[21]

रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

21.1 परिचय

21.2 शंकर

21.3 ज्ञानमीमांसा

21.4 तत्त्वमीमांसीय अवधारणाएं

21.5 मोक्ष

21.6 मध्व

21.7 ज्ञानमीमांसा

21.8 तत्त्वमीमांसीय अवधारणाएं

21.9 मोक्ष

21.0 रामानुज

21.11 ज्ञानमीमांसा

21.12 तत्त्वमीमांसीय अवधारणाएं

21.13 मोक्ष

21.14 सारांश

21.15 कुंजी शब्द

21.16 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

21.17 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य है–

- वेदान्त परम्परा के अद्वैत और द्वैत दर्शनों की ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा और नीतिमीमांसा को स्पष्ट करना,
- मोक्ष के विचार और मोक्ष के साधनों की चर्चा करना।

[21] डॉ. एस भुवनेश्वरी, मद्रास विश्वविद्यालय, अनुवाद– डॉ. आनन्द पाण्डे, जे एन यू दिल्ली

21.1 परिचय

उपनिषद् वेदान्त कहे जाते हैं। क्योंकि ये वेद के अन्तिम भाग हैं या कुछ विद्वान कहते हैं कि ये वेद का सार हैं। ये दार्शनिक स्वरूप वाले हैं। उपनिषद् प्रस्थानत्रयी (*उपनिषद्, भगवद्गीता* और बादरायण का *वेदान्तसूत्र* वेदान्त दर्शनों के प्रस्थान–बिन्दु या आरम्भ–बिन्दु या आधार कहे जाते हैं) में से एक हैं। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने अपने दर्शन को इन तीनों पर आधारित किया है। अनेक दार्शनिकों ने अपने सिद्धान्तों को प्रमाणित करने या स्थापना के लिए उपनिषदों के निर्वचन के विविध प्रयास किये हैं। ये सम्प्रदाय वेदान्त सम्प्रदाय कहलाते हैं। वेदान्त दर्शन श्रुति, युक्ति और अनुभव पर आधारित है। इस इकाई में हम उनमें से तीन; शंकर, मध्व और रामानुज के दर्शन की चर्चा करेंगे। शंकर ने अद्वैत, मध्व ने द्वैत और रामानुज ने विशिष्टाद्वैत की स्थापना की।

21.2 शंकर

शंकर का जन्म केरल के कालडी में शिवगुरू और आर्यम्बा दंपत्ति के यहां 788 ई. में हुआ था। इनके माता–पिता शिव के उपासक थे।

उन्होंने प्रस्थान त्रय (वेदांत के तीन प्रमुख सिद्धांतों: *उपनिषद्, भगवद्गीता,* और *ब्रह्मसूत्र*) पर भाष्य लिखा। उनके कुछ शिष्य पद्मपाद, सुरेश्वर, टोटक और हस्तामलक थे। उनकी प्रसिद्ध दार्शनिक रचनाएं इस प्रकार हैं:–*विवेकचूड़ामणि, उपदेश साहस्री, वाक्यवृत्ति, मोहमुद्गर (भज गोविन्दम्)* इत्यादि। उनके कुछ भक्तिपरक स्त्रोत हैं:– *गणेश पंचरत्नम्, सौंदर्यलहरी, शिवानंदलहरी, नर्मदाष्टकम्* आदि। ऐसा कहा जाता है कि अपने छोटे से जीवन में उन्होंने सौ से अधिक रचनाएं कीं। 820 ई. में अपने कार्य के अंत में उन्होंने अपने शिष्यों को मानवता के कल्याण की उनकी दृष्टि को आगे बढ़ाने के लिए कहा। ऐसा कहा जाता है कि उसके बाद वे हिमालय की ओर प्रस्थान कर गये।

21.3 ज्ञानमीमांसा

अद्वैत दर्शन के सारतल को शंकर ने अपनी इस प्रसिद्ध उक्ति में दिया है: ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवोब्रह्मैव नापरः– ब्रह्म सत्य है, जगत् असत्य है और जीव (वैयक्तिक आत्मा) ब्रह्म से भिन्न नहीं है। यह शिक्षा उपनिषदों के कथनों पर आधारित है। अद्वैतवादी सारतत्त्व को उजागर करने के प्रयास (उपनिषदों की) व्याख्याओं में निहित हैं।

स्व या ब्रह्म का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता है क्योंकि ब्रह्म को विषय नहीं बनाया जा सकता है। ब्रह्म स्व–साक्षी स्व–प्रकाशक है, इसलिए ब्रह्म–ज्ञान, वृत्ति–ज्ञान या आनुभविक ज्ञान के विपरीत स्वरूप–ज्ञान कहलाता है।

शंकर के अनुसार, ब्रह्म किसी भी प्रमाण (प्रमा के साधन) से नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान या प्रमा का साधन द्वैत (ज्ञाता और ज्ञेय विषय) को मानकर चलता है। ब्रह्म अद्वय है। यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय विषय के मध्य कोई द्वैत नहीं है। यहाँ तककि शास्त्र भी अविद्या (द्वैत) में हैं। लेकिन शास्त्र ब्रह्म–विषयक कथन रखने के कारण ब्रह्म के प्रति संकेत के रूप में प्रयोग किये जा सकते हैं। जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म हो जाता

है, दर्शाता है कि ज्ञाता और ज्ञेय के मध्य कोई कालान्तर नहीं है। जैसेकि घटाकाश और महाकाश एकसमान हैं, लेकिन घट की दीवार के कारण, हम सोचते हैं कि ये भिन्न हैं, लेकिन जब घट नष्ट होता है, आप घटाकाश का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। ब्रह्म सर्वव्यापक है जैसेकि मिट्टी मिट्टी के बर्तनों में व्याप्त है। नाम और रूप कि यह घट है, यह बोतल है, ये केवल मिट्टी के विकार (रूप–परिवर्तन) हैं, मिट्टी ही सत् या वास्तविक है। इसी प्रकार ब्रह्म ही सत् है, संसार विकार है और ब्रह्म से अलग संसार अपना कोई स्वतन्त्र एवं भिन्न अस्तित्व नहीं रखता है।

अविद्या नैसर्गिक है, यह अनादि है। यह किसी वस्तु को भिन्न या अन्य वस्तु की तरह देखना है। यह सदसदविलक्षण (सत् असत् अविलक्षण) है, क्योंकि यह न तो सत् है (क्योंकि ब्रह्म ही एकमात्र सत् है) न ही असत् है (आकाश के पुष्प की तरह नहीं होने के कारण; आकाश में पुष्प का कोई अस्तित्व नहीं)। इसलिए हम अविद्या का निर्वचन नहीं (निर्वचन के लिए कोई वस्तु सत् या असत् की कोटि में होनी चाहिए) कर सकते हैं। इसलिए अविद्या अनिर्वचनीय कहलाती है।

21.4 तत्त्वमीमांसीय अवधारणाएं

इस भाग में हम अद्वैतवाद की तत्त्वमीमांसीय कोटियों की चर्चा करेंगे।

ब्रह्म

सत् वह है जो त्रिकाल (तीन काल; जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) अबाधित (जिसका बाध न हो; जिसके अस्तित्व में बाधा न हो) है। अहं या स्व का बाध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इसका निषेध भी इसके अस्तित्व (होने को) स्वीकारता है। उपनिषद् ब्रह्म को दो तरह से परिभाषित करते हैं, पहला, इसके मूल रूप का प्रस्तुतीकरण (स्वरूप लक्षण), और दूसरा, द्वितीयक गुणों के माध्यम से ब्रह्म का प्रस्तुतीकरण (तटस्थ लक्षण)। 'अस्तित्व चैतन्य निस्सीम ब्रह्म' जैसे औपनिषदिक कथन ब्रह्म के साररूप अथवा प्रत्यक्ष परिभाषा के रूप में जाने जाते हैं और 'उसी से सृष्टि की समस्त चीजें निःसृत हुई हैं' जैसे कथन जो ब्रह्म का वर्णन ब्रह्मांड के रचयिता के रूप में करते हैं, तटस्थ लक्षण को कहते हैं। ब्रह्म का वर्णन एक अद्वितीय, द्वैत रहित के रूप में किया गया है जिसका अर्थ है ब्रह्म सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से मुक्त (सताजीय विजातीय स्वगत शून्य) है। अद्वय ब्रह्म, गुणों, परिवर्तनों और रूपों से शून्य नित्य पवित्र और अद्वितीय सत्ता है। यह पूर्ण रूप (इन्द्रिय अगोचर) से वास्तविक और संपूर्ण सत्ता है। अद्वैत के अनुसार, निर्गुण ब्रह्म एकमात्र वास्तविकता (सत्) है। जब उसे वैयक्तिक आत्म (जीव) की वास्तविक प्रकृति से अभिन्न महसूस किया जाता है तब उसे आत्म के रूप में जाना जाता है। इस तरह ब्रह्म और आत्म अनिवार्यतः एक हैं। ब्रह्म अनादि है। ब्रह्म का द्वितीयक लक्षण सहित रूप सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर को माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म–चेतना के रूप में परिभाषित किया जाता है। माया ईश्वर की शक्ति है।

अविद्या

अविद्या (जिसे कभी–कभी माया कहा जाता है; माया के विषय में विवादित है कि शंकर ने माया शब्द का प्रयोग किया कि नहीं। यह विवाद इस विवाद पर आधारित है कि शंकर ने कौन–कौन सी पुस्तकें लिखीं) अथवा आद्य विषय भी अनादि है। ब्रह्म उसका

आश्रय और विषय है। ब्रह्म का अस्तित्व और साक्ष्य अविद्या द्वारा छिपा दिया गया है। माया की परिभाषा अवर्णनीय/अनिर्वचनीय–अथवा यह जो अस्तित्ववान (सत्) अथवा अनस्तित्ववान (असत्) या दोनों के रूप (सत् और असत् दोनों) में वर्गीकृत नहीं की जा सकती– के रूप में की गई है। इसे अस्तित्ववान नहीं कहा जा सकता क्योंकि ब्रह्म–ज्ञानोदय होने पर माया और उसके प्रभाव निष्प्रभावी हो जाते हैं। यह अनस्तित्वान नहीं हो सकती क्योंकि यह अनुभूत हो चुकी है। यह दोनों नहीं रह सकती क्योंकि परस्पर विरोधी गुण एक साथ (एक आश्रय में) नहीं रह सकते। इसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। बल्कि इसके उत्पादों (कार्यों/रचनाओं)–विश्व और भौतिक सत्ताओं– के द्वारा इसका अनुमान किया जा सकता है। माया की दो शक्तियां हैं– एक आवरण शक्ति, जो प्रकृति की चेतना को छिपाती है और दूसरी विक्षेप शक्ति, जो बहुलतावादी संसार को दर्शाती है। माया का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। अपने अस्तित्व के लिए यह ब्रह्म पर निर्भर है। अद्वैत के अनुसार, जिसका भी अस्तित्व सापेक्ष (निर्भर) है यह मिथ्या है।

जीव

अद्वैत के अनुसार, मन में प्रतिबिम्बित ब्रह्म–चेतना ही जीव है। जीव भी अनादि है। छह कारकों को अनादि मानकर अद्वैत समय की चक्रकता को दिखलाता है और 'प्रथम' रचना, जिसे अतार्किक मानकर निरस्त कर दिया गया था, की जांच नहीं करता है। जीव ज्ञान एवं शक्ति में सीमित है और एक स्थान पर स्थित है। जीव असंख्य हैं। ये तीन शरीरों की रचना करते हैं– स्थूल, सूक्ष्म, और कारण। पार्थिव देह जन्म और मृत्यु का विषय है। जहाँ भौतिक पार्थिव देह अनुभवों को सहती है, वहीं सूक्ष्म देह अनुभवों का साधन है। तीनों देह अपने–अपने कार्यों पर आधारित हैं। इन्हें पांच रूपों (पंच कोष) में बांटा गया है– अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनंदमय कोष। वैयक्तिक आत्म या जीव अनुभवों के तीन चरणों को पार करता है– जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति (गहन निद्रा)। जीव अपने विभिन्न अवयवों के माध्यम से कर्म–फल का कर्त्ता एवं भोक्ता है। जीव तीन प्रकार के कर्मों से बंधा है: संचित, प्रारब्ध और आगामी। संचित कर्म अतीत के कर्मों का फल हैं लेकिन जिनका फल मिलना अभी शेष है। प्रारब्ध कर्म जिनके फल आज मिल रहे हैं और आगामी कर्म भविष्य के कर्मों का परिणाम हैं जिनके फल भविष्य के कर्मों से मिलेंगे।

जगत्

अद्वैतवादी आनुभविक (प्रत्ययगोचर) ब्रह्मांड के उद्भव के विवरण के लिए विवर्तवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, कारण बिना परिवर्तन के प्रभाव पैदा करता है। ब्रह्म यह आश्रय है जिस पर ब्रह्माण्ड प्रकट होगा। विश्व ब्रह्म से स्वतंत्र नहीं है। विश्व के उदय का कारण माया है, जो रूपांतरित होती है। और इसलिए यह रूपांतरणीय भौतिक कारण (परिणामी उपादान कारण) है। अद्वैतवादी मानते हैं कि ब्रह्माण्ड का अस्तित्व अव्यक्त रूप में ब्रह्म में है। इस दृष्टिकोण को इसीलिये सत्कार्यवाद कहते हैं। माया ब्रह्म के अधीन है और माया रहित ब्रह्म कारण नहीं हो सकता। ईश्वर को ब्रह्मांड का भौतिक और बौद्धिक कारण माना गया है। माया का संचालक ईश्वर ब्रह्माण्ड को व्यवस्थित और सोद्देश्य ढंग से निर्मित करता है। माया का कारणरूप भी अनादि है, जो दो चरणों में विकसित होता है– पहले सूक्ष्म ब्रह्माण्ड विकसित होता है, फिर इससे स्थूल ब्रह्माण्ड विकसित होता है। यह प्रक्रिया स्थूल और सूक्ष्म ब्रह्माण्ड के स्तर पर विकसित होती है। हम इस उद्भवकारी प्रक्रिया को इस तरह समझ सकते हैं:–

अव्यक्त स्थिति में आकस्मिक शरीर पहले वैसे ही सूक्ष्म शरीर के रूप में व्यक्त होता है जैसे बीज से अंकुर फूटता है। पंचतत्त्व–गगन, समीर, पावक, जल और पृथ्वी–आकस्मिक

स्तर पर माया से निकले तीन गुणों से बनते हैं। सूक्ष्म शरीर स्थूलीकरण (पंचीकरण) की प्रक्रिया से विकसित होता है। यह प्रक्रिया सोलह अंगों का संयोजन होती है जो कि अदृश्य और अगम्य हैं। ये ज्ञान की पाँच इन्द्रियां, (स्पर्श, श्रवण, दृष्टि, स्वाद और गंध) और कर्मेन्द्रियां (भाषण, ग्रहण, इत्यादि, संचलन इन्द्रिय, मलोत्सर्जक अंग और प्रजनन अंग), पाँच जीवंत वायु (श्वास–प्रश्वास, पाचन, परित्याग, परिवर्तन प्रक्रिया) और चार स्तरीय कार्यों जैसे कि मन, बुद्धि, अहंबोध और स्मृति वाला आन्तरिक अंग (अन्तः करण)। ज्ञानेन्द्रियां और बुद्धि माया के सत्वगुण की उपज हैं, कर्मेन्द्रियां और जीवंत वायु माया के रजोगुण की उपज हैं। सूक्ष्म ब्रह्मांड के पास इनमें से प्रत्येक अंग के समतुल्य संचालक देवता हैं। उदाहरण के लिए, सूर्य आंखों का संचालन देवता है और इसी तरह से अन्य सभी के संचालक देवता हैं। इस स्थिति में सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म ब्रह्माण्ड का विकास होता है। ये माया के तमोगुण से विकसित होते हैं और स्थूलीकरण (पंचीकरण) की प्रक्रिया से गुजरते हैं। स्थूल स्तर पर पंचतत्त्व दो बराबर भागों में विभाजित हैं। प्रत्येक तत्त्व का आधा हिस्सा पुनः चार हिस्सों में विभाजित होता है। प्रत्येक तत्त्व का आठवां हिस्सा, आधे हिस्से को अपने पास रखते हुए, अन्य तत्वों को स्थानांतरित होता है। स्थूलीकरण की इस प्रक्रिया के अंत में, प्रत्येक तत्त्व के पास आधा स्वयं अपना और आठवां हिस्सा अन्यों का होता है। उदाहरण के लिए, पृथ्वी तत्त्व में आधा हिस्सा पृथ्वी तत्त्व एवं आकाश, वायु, अग्नि, और जल तत्त्व में से प्रत्येक का आठवां हिस्सा होगा। इस स्तर पर व्यक्ति को स्थूल शरीर और स्थूल ब्रह्माण्ड का अनुभव होता है। भौतिक शरीर और भौतिक जगत् अनात्म (अन आत्म; जो आत्म नहीं) के रूप में जाने जाते हैं।

21.5 मोक्ष

आत्म–अज्ञान के कारण आत्म और अनात्म की प्रकृति का मिश्रण होता है और यह बंधन में फलीभूत हो जाता है। आत्म की प्रकृति अनन्त, अमर, शुद्ध, असीम, आनन्दपूर्ण इत्यादि है। अनात्म की प्रकृति का अनृत (मिथ्यारूप में) आत्म पर और आत्म की प्रकृति, जोकि सत् और चित् है, का अनात्म पर मिथ्यापूर्वक आरोपण होता है। यह आरोपण बन्धन का कारण है। बन्धन एक भ्रम है जोकि अज्ञान के कारण ब्रह्म पर आरोपण (अध्यास; यह आरोपण जिसका सम्यक् ज्ञान से बाध हो सके) के रूप में है और इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। अनिर्वचनीयख्यातिवाद के आधार पर, रज्जु (रस्सी) सम्बन्धी अज्ञान (रस्सी को किसी और रूप में देखना, जैसे सांप के रूप में), सांप को रचता है, यहाँ अज्ञान सांप (सांप–बुद्धि; यह सांप है) का उपादान कारण है। रस्सी यह आश्रय है जिस पर सांप (सांप बुद्धि) का आरोपण या अध्यास होता है और इसलिए रस्सी सांप का परिणामी उपादान कारण है। सांप देखने वाला सांप की विशेषताओं का आरोपण करता हुआ भयभीत होता है और भागने का प्रयत्न करता है। रस्सी–ज्ञान (यह रस्सी है) के उदय होने पर सांप विनष्ट हो जाता है और व्यक्ति सुरक्षित महसूस करता है। इस घटनाक्रम में, वास्तव में कोई दुःख या पीड़ा नहीं है लेकिन फिर भी यथार्थ ज्ञान (रस्सी–ज्ञान) के अभाव में व्यक्ति दुःख या भय का अनुभव करता है। अद्वैत वेदान्त का कथन है कि, इसी तरह से, विविधताओं या अनेकत्व (बहुलताओं) वाला यह संसार अज्ञान के कारण अद्वय ब्रह्म पर आरोपण है, बहुलताएं दुःख का कारण हैं, ब्रह्मज्ञान के उदय होने पर बहुलतायें (द्वैत) विनष्ट हो जाती (जैसेकि सांप विनष्ट हो जाता है) हैं और व्यक्ति आत्म की अद्वय प्रकृति की अनुभूति करता है तथा आनन्द को प्राप्त करता है। 'मैं पिता हूँ', 'मैं छात्रा हूँ' ये सभी (पिता, माता, विद्यार्थी, धनी, निर्धन, भारतीय इत्यादि) अहं या आत्म पर आरोपण हैं। यह

अध्यास है, लेकिन अध्यास का आगामी यथार्थ ज्ञान (कि यह ऐसा है वैसा नहीं; जो जैसा है उसका वैसा ज्ञान) के द्वारा बाध हो जाता है। जब हम अपना स्वरूप जान लेते हैं, तब कोई अध्यास सम्भव नहीं होता।

मोक्ष शुद्धीकरण नहीं है, और न ही मोक्ष के सम्बन्ध में करने, न करने या भिन्न रीति से करने का कोई विकल्प है। क्योंकि यह वस्तुतन्त्र (वस्तु पर निर्भर, जैसे यहाँ मोक्ष पर निर्भर) है, न कि पुरुषतन्त्र (कर्त्ता, याहक या विषयी पर निर्भर)। इसी वजह से, उपासना या भक्ति या यज्ञ और न ही कोई कार्य मोक्ष की ओर ले जाता है।

जिसने महावाक्य के माध्यम से अद्वय–ज्ञान को प्राप्त कर लिया है वह जीवन–मुक्त है। तकनीकि रूप से, यह कहा गया है कि जीवन–मुक्त अपने संपूर्ण 'संचित कर्म' को जला डालता है और 'आगामी कर्म' से अप्रभावित रहता है। चूंकि, 'प्रारब्ध कर्म' अपना फल दे चुका होता है, और इससे मुक्ति केवल अनुभव से मिल सकती है। इसलिए जीवन मुक्त तब तक बना रहता है जब तक प्रारब्ध हैं। शरीर के पतन के बाद, मोक्ष–प्राप्त जीव दूसरा शरीर नहीं धारण करता है और इस प्रकार जन्म और मृत्यु से स्वतंत्र (विदेह मुक्ति) होता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार के अनुसार, ज्ञान के दूरस्थ साधन कर्म और ध्यान हैं। ये साधन मन की शुद्धता में वृद्धि करते हैं। निकटस्थ साधन चार–स्तरीय योग्यताएं हैं: विवेक अथवा नित्य और अनित्य के बीच भेदज्ञान, वैराग्य या सांसारिक लाभों से विलगाव, शमदमादिषट्सम्पत्त अथवा छह स्तरीय मानसिक अनुशासन, और मुमुक्षत्व अथवा मोक्ष की उत्कंट अभिलाषा। ऐसे अन्वेषी को ही मोक्ष के अधिकारी के रूप में जाना जाता है जो प्रत्यक्ष साधनों को चुनता है, जैसे– धर्मग्रंथों का श्रवण (श्रवण), संदेहों के उन्मूलन में संलग्नता (मनन), शिक्षाओं के अनुसार जीवन जीकर ब्रह्मरूप में स्थापित होना (निदिध्यासन)।

जीव और ब्रह्म की तादात्म्यता को उपनिषदों में महावाक्य द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। ऐतरेय का सम्बन्ध ऋग्वेद से है, और इसका महावाक्य है– 'प्रज्ञानं ब्रह्म', *बृहदारण्यक* का सम्बन्ध यजुर्वेद से है, इसमें 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य है। महावाक्य 'तत्त्वमसि' *सामवेद* के *छांदोग्य उपनिषद्* का है और *अथर्ववेद* के *माण्डूक्य* का महावाक्य है 'अयमात्मा ब्रह्म।' यहां हम तत्त्वमसि महावाक्य, जो कि निर्देशात्मक स्वभाव का है, का विश्लेषण करेंगे।

छांदोग्य के सद्विद्या वर्ग में पिता उद्दालक और पुत्र श्वेतकेतु के बीच एक संवाद है। संवाद के आरम्भ में ही यह संकेत है, 'जिसे जानने के पश्चात् अन्य सब कुछ ज्ञात हो जाता है।' उद्दालक कहते हैं कि ईश्वर ब्रह्माण्ड का कारण है। यह 'सत्' अथवा अस्तित्ववान है। तत्त्वमसि महावाक्य के द्वारा वे अपने पुत्र का निर्देशित करते हुए कहते हैं, 'तुम वह हो'। तत् (वह) और त्वं (तुम) शब्दों का प्राथमिक अर्थ तादात्म्यता को निरूपित नहीं करता है। आइये इस प्रक्रिया को क्रमानुसार देखते हैं:–

तत् शब्द का प्राथमिक अर्थ ईश्वर को निर्देशित करता है। यह ईश्वर माया में प्रतिबिम्बित होने वाली चेतना के रूप में परिभाषित है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, और सर्वव्यापी है। त्वं शब्द का प्राथमिक अर्थ जीव से संदर्भित है जो कि मन में प्रतिबिम्बित होने वाली चेतना के रूप में परिभाषित है। जीव की बुद्धि, शक्ति और व्यापकता सीमित है। मूल अर्थ के माध्यम से स्पष्ट विशेषताएं स्वभाव से अंतर्विरोधी और एक दूसरे के विरूद्ध हैं। तत् (परमात्मा) और त्वं (जीवात्मा) की तादात्म्यता असंभव है। चूंकि प्राथमिक अर्थ इसके लागू नहीं हो पाती, इसलिए हम द्वितीयक अर्थ लागू करते हैं। द्वितीयक निहितार्थ तीन चरणों में विकसित होता है:

1) पहला चरण समानाधिकरण्य अथवा कर्मधारय समास के रूप में जाना जाता है, जिसमें दो शब्द व्याकरणीय रूप से संयुक्त होते हैं और दोनों समान अवस्थिति को स्पष्ट करते हैं। उदाहरण के लिए, 'श्वेत कमल' दो शब्द हैं जो व्याकरणीय रूप से संयुक्त होकर एक ही पुष्प को निर्देशित करते हैं। समानरूप से, तद् और त्वं दोनों का समानाधिकरण है, इसलिए समान अवस्थिति को इंगित करता है। किन्तु, शब्दार्थ एक दूसरे विपरीत हैं।

2) दूसरा चरण विशेष्य विशेषण सम्बन्ध के रूप में जाना जाता है। शब्द के अर्थ विशेष्य और विशेषण के रूप में कार्य करते हैं और एक दूसरे को परिसीमित करते हैं। 'श्वेतकमल' के मामले में, श्वेत का अर्थ है 'सफेदपन (श्वेतपन)' और कमल शब्द का अर्थ है 'कमलपन'। प्रथम में, श्वेत विशेषक है और कमल विशेष्य है। और दूसरे उदाहरण में 'कमलपन'। प्रथम में, श्वेत विशेषक है और कमल विशेष्य है। और दूसरे उदाहरण में 'कमल' विशेष है और 'श्वेत' विशेषक है। इस प्रकार, दोनों शब्दार्थ समान वस्तु का निर्देश करते हुए एक दूसरे को परिसीमित करते हैं। किन्तु, तत् और त्वं शब्दों के मामले में विशेषण और विशेष्य की प्रक्रिया उचित तौर पर नहीं होती इसलिए विरोधी अर्थ के साथ शब्दार्थ एक ही वस्तु के संदर्भ में प्रयुक्त नहीं किये जा सकते हैं इसलिए हमें द्वितीयक निहितार्थ के लिए तीसरे चरण की ओर बढ़ना होगा।

3) तीसरा चरण लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध के रूप में जाना जाता है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, लक्षण तीन प्रकार के होते हैं। जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहल्लाजहल्लक्षणा। जहल्लक्षणा में, प्राथमिक अर्थ पूर्णतया त्याग दिया जाता है और इससे सम्बन्धित द्वितीयक अर्थ, वाक्य के अर्थ को समझने के लिए प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिए, 'कुआं चलायमान है' का कोई अर्थ नहीं निकलता है। 'कुआं' शब्द का अर्थ यहाँ अनुपयुक्त है क्योंकि 'कुआं' चल नहीं सकता है। 'कुआं' का संबंद्ध अर्थ पानी है, जो कि चमड़े के एक थैले में भरा हुआ है। चमड़े के ये थैले बैलों पर लटके हुए हैं और बैल चल रहे हैं। यह अर्थ जहल्लक्षणा विषयक द्वितीयक अनुप्रयोग द्वारा प्रतिपन्न किया गया है। यह पद्धति महावाक्य के मामले में उपयुक्त प्रतीत नहीं होती है क्योंकि इसमें प्राथमिक अर्थ को पूरी तरह से छोड़ देना होगा। अगर ऐसा है तो, तत् और त्वं का प्राथमिक अर्थ, जो कि चेतना को शामिल करता है, को छोड़ देना होगा और तादात्म्यता तक नहीं पहुँचा जा सकता।

दूसरे प्रकार अजहल्लक्षणा में प्राथमिक अर्थ बना रहता है और संबंद्ध शब्द को वाक्य का अर्थ जानने के लिए शामिल कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए, 'भूरे दौड़ रहे हैं' कोई अर्थ व्यक्त नहीं करता। 'भूरे घोड़े दौड़ रहे हैं– स्पष्ट है। प्रसंगवश घोड़े शब्द जोड़ देने से यह वाक्य स्पष्ट अर्थ दे रहा है। यहाँ प्राथमिक अर्थ छोड़ा नहीं गया है, बल्कि नया शब्द (तत्त्व) जोड़ दिया गया है। यह पद्धति महावाक्य के मामले में उपयुक्त नहीं है क्योंकि अगर प्राथमिक अर्थ बना रहता है तब परमात्मा और जीवात्मा के असंगत गुणों को भी बनाये रखना होगा। फलतः तादात्म्यता कभी–भी स्थापित नहीं की जा सकेगी।

तृतीय निहितार्थ प्रक्रिया जहल्लाजहल्लक्षणा के रूप में जानी जाती हैं जिसमें प्राथमिक अर्थ का एक भाग बना रहता है और दूसरा भाग छोड़ दिया जाता है। दृष्टान्ततः, एक व्यक्ति अपने मित्र से कई सालों बाद मिलता है और उसे 'यह वही देवदत्त है' के रूप में पहचानता है। 'यह' शब्द देवदत्त को वर्तमान काल और वर्तमान स्थान पर संदर्भित कर रहा है और 'यह या वही' शब्द भूतकाल और भिन्न स्थान से सम्बन्धित देवदत्त को संदर्भित

कर रहा है। देवदत्त की 'एकता' वर्तमान समय तथा वर्तमान स्थान और भूतकाल और भिन्न स्थान को छोड़कर केवल व्यक्ति देवदत्त को लिए हुए है। उसी शैली में, तत् और त्वं के गुण छोड़ (त्याग) दिये गये हैं और उनके पीछे की चेतना बनी हुई है जोकि सारतः एक ही है। इस प्रकार, इस चेतना–सिद्धान्त पर पहुँचा जा सकता है, जो की आत्मा की वास्तविक प्रकृति यानि अद्वैत है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. आत्मा की प्रकृति के ज्ञान के लिए द्वितीय निहितार्थ के प्रथम चरण की संक्षिप्त व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

.....

21.6 मध्व

मध्व का जन्म 1238 ई. में उडुपी ने निकट पजाका नामक एक छोटे–से गांव में मध्यगेह भट्ट और वेदवती के घर में हुआ था। 11 साल की उम्र में ही ये त्याग के मार्ग पर चल पड़े। उन्होंने आश्रम व्यवस्था में उडुपी के निकट निवासी उस समय के प्रसिद्ध सन्यासी अच्युत–प्रज्ञ से दीक्षा लेने का निर्णय लिया। अच्युत–प्रज्ञ ने सन्यास–दीक्षा के समय वासुदेव (मध्व का बचपन का नाम) का नामकरण पूर्णप्रज्ञ के रूप में किया। कुछ ही महीने में उन्होंने विशेषज्ञ विद्वानों से शास्त्रार्थ जीत लिये। इससे उनका नया नाम आनंदतीर्थ हो गया। बाद में ये मध्वाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने प्रस्थान त्रय पर टीका लिखने का संकल्प लिया। उन्होंने कई रचनाएं कीं जिन्हें उनके शिष्य सत्यतीर्थ द्वारा अभिलेखित किया गया। उनकी कुछ रचनाएं हैं– *प्रमाणलक्षण, तत्त्वविवेक, विष्णु तत्त्व निर्णय* आदि। 79 वर्ष की आयु में उन्होंने अपने शिष्यों से विदा ली और बद्री के लिए चल गये।

21.7 ज्ञानमीमांसा

द्वैत दर्शन का मत है कि विष्णु सर्वोच्च सत्ता है और यही धर्म ग्रंथों की शिक्षा है। विष्णु के प्रति भक्ति के विकास से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। मध्व के लिए समर्पण तभी संभव है जब अन्वेषक विष्णु का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जोकि प्रमाणों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान मीमांसीय संरचना के मार्ग में द्वैत विचारधारा यथार्थवादी (वस्तुवादी) है जिसके अनुसार, वस्तु की सत्ता (अस्तित्व) 'वस्तु के ज्ञान' से भिन्न है।

द्वैत के अनुसार, वस्तु की सत्ता इसकी संज्ञा और असंज्ञा से भिन्न है। वस्तु ज्ञेय होने योग्य गुणों के साथ अस्तित्वमान रहती है। गुणरहित वस्तु की संभावना को द्वैतदर्शन निरस्त करता है। वस्तु के गुण ज्ञान के स्वरूप को निर्धारित करते हैं इसलिए द्वैतवाद व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान की नहीं अपितु वस्तुनिष्ठ ज्ञान की सत्ता स्वीकारता है।

मध्व 'प्रमाण' शब्द के दो अर्थों पर ध्यान देते हैं, प्रथम अर्थ ज्ञान को और दूसरा ज्ञान के साधनों को निर्देशित करता है। इसलिए ये दोनों को दो पदों केवलप्रमाण और अनुप्रमाण के माध्यम से अलग करते हैं। केवलप्रमाण ज्ञान के अर्थ के लिए प्रयुक्त होता है और जबकि अनुप्रमाण ज्ञान के साधन के लिए।

केवल प्रमाण

केवल प्रमाण की परिभाषा उस ज्ञान के रूप में की गई है जो अपने विषय (उस ज्ञान के विषय) के परे नहीं जाता है और अनुप्रमाण वह है जो यथार्थ (वैध) ज्ञान उपलब्ध करता है। केवल प्रमाण को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है। पहला है ईश्वर–ज्ञान। यह केवल ईश्वर, जो कि पूर्ण, वैध (यथार्थ) और अनंत है, के पास होता है। यह ज्ञान ईश्वर के स्वरूप से भिन्न नहीं है और ईश्वर व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों का ज्ञान रखता है। इसे स्वरूप ज्ञान के रूप में जाना जाता है। दूसरे प्रकार का ज्ञान लक्ष्मी–ज्ञान होता है। यह भी अनंत है लेकिन ईश्वर पर निर्भर (सापेक्ष) है, जबकि ईश्वर ज्ञान स्वतंत्र है। मध्व के अनुसार, वास्तव में, सभी प्राणियों के पास भी स्वरूप ज्ञान होता है। किंतु अंतर यह है कि ईश्वर–ज्ञान और लक्ष्मी–ज्ञान अज्ञान द्वारा आच्छादित नहीं होता जबकि प्राणियों के मामले में यह अज्ञान द्वारा आच्छादित होता है। इस प्रकार सभी जीवों का स्वरूप ज्ञान यह निमित्त कारण है जो मन को रूपान्तरित (विरूपित) करता है, जिसे मनोवृत्ति–ज्ञान के रूप में जाना जाता है। मन जीव द्वारा संपर्कित भौतिक कारण है। मन इन्द्रियों से संपर्क करता है, इन्द्रिय ग्राह्य वस्तुओं से संपर्क करती है और प्रत्यक्ष ज्ञान का उदय होता है। तीसरा प्रमाण योगी–ज्ञान है। यह वह ज्ञान है जिसे योग शक्ति से ईश्वर पर ध्यान लगाने से प्राप्त किया जा सकता है। इसे ईश्वर पर ध्यान लगाने के फलस्वरूप प्राप्त होने के आधार पर तीन भागों में बांटा गया है। अंतिम प्रमाण है अयोगि–ज्ञान, जोकि समस्त जीवों का ज्ञान है। जीव ये हैं जो यागियों की श्रेणी में नहीं आते हैं। उनका ज्ञान अवैध (अयथार्थ), अपर्याप्त और क्षणभंगुर होता है।

अनुप्रमाण

मध्व तीन प्रमाणों अथवा ज्ञान के साधनों को स्वीकार करते हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। यहाँ अद्वैत व अन्य विचारधाराओं द्वारा स्वीकृत ज्ञान के अन्य साधन इन्हीं तीन के अन्तर्गत् मान लिये गये हैं। उदाहरण के लिए मध्व कहते हैं, सादृश्यता (उपमान) के मामले में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों लागू किये जाते हैं और उपमान ज्ञान इन दोनों साधनों द्वारा अर्जित किया जाता है इसलिए सादृश्यता (उपमान) को ज्ञान के भिन्न साधन के रूप में स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अर्थापत्ति प्रमाण भी अनुमान के अन्तर्गत् है और अनुपलब्धि (किसी वस्तु का किसी देश–काल में उपलब्ध न होना) प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण द्वारा जाना जा सकता हैं। इस प्रकार मध्व अपने आप को केवल ज्ञान के तीन साधनों तक ही सीमित रखते हैं।

प्रत्यक्ष

द्वैतवाद में प्रत्यक्ष का ढंग है इन्द्रियों का वस्तु से संपर्क। द्वैतवादियों के लिए वैध प्रत्यक्ष तभी होता है जब इन्द्रियां और विषय दोनों दोषरहित हों। दोषों की उपस्थिति का परिणाम

भ्रम या संदेह का अवैध (अयथार्थ) बोध है। प्रत्यक्ष ज्ञान में द्वैतवाद सात इन्द्रियों के कार्यों को सूचित करता है। इन्द्रियों के ये सात कार्य हैं– पाँच ज्ञानेन्द्रियां, मन और साक्षी। ज्ञानेन्द्रियों एवं साक्षी के रूप में मन की अवधारणा द्वैतवाद की अद्वितीय अवधारणा है। मन जहाँ पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के संयोजन का और स्मरण करने की क्रिया (पुनर्स्मरण) के साधन के रूप में कार्य करता है, वहीं साक्षी (साक्ष्य या गवाह) चेतना अथवा सहजज्ञान (अन्तर्प्रज्ञा) प्रत्यक्ष की क्षमता है। कहा गया है कि यह साक्षी जीव में निहित चेतना की समानधर्मा है। चूंकि साक्षी इन्द्रिय का विशुद्ध रूप है, इसलिए यह कभी भी अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न नहीं करता। ज्ञानेन्द्रिया की सहायता से साक्षी बाह्य वस्तुओं का अनुभव करता है। और आत्म, मन, मन के गुण, अज्ञान, काल, दिक् आदि, जिनके लिए इन्द्रियां साधन का काम नहीं करती हैं, उन्हें साक्षी सीधे अनुभव करता है (प्रत्यक्षतः)। द्वैत साक्षी के माध्यम से आत्म के प्रत्यक्ष ज्ञान का समर्थन करता है। द्वैत के लिए, प्रत्येक प्रत्यक्ष सविकल्पक है और यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का खंडन करता है। एक यथार्थवादी के रूप में मध्व स्वप्न और भ्रम ज्ञान को वास्तविक मानते हैं। भ्रम 'अनिश्चित ज्ञान' के रूप में परिभाषित है। जिसमें प्रत्यक्षकर्ता संज्ञान की वस्तु के विशिष्ट गुणों को पहचानने में असफल होता है। इस प्रकार संदेहपूर्ण ज्ञान में वैकल्पिक गुणों, जोकि वस्तु को निर्धारित करते हैं, के साथ एक वस्तु होती है। मध्व स्वप्न लोक के यथार्थ को निश्चित धार्मिक कथनों के आधार पर स्थापित करते हैं। ये स्वप्नलोक को वास्तविक लोक के रूप में मानते हैं क्योंकि यह बाह्य यथार्थ की शर्तों को पूरा करता है।

शब्द / शब्द–प्रामाण्य

मध्व मानते हैं कि दोष रहित कथन वैध शब्द प्रमाण कहलाता है। ये दोषों को सात भागों में वर्गीकृत करते हैं। ये हैं– अबौद्धिकता (अबोधकत्व), निरर्थक शब्दों के प्रयोग का परिणाम (निरभिधेयत्व), वाक्यात्मक रूप से असम्बद्ध शब्दों के प्रयोग का परिणाम (अनवयभाव), त्रुटिपूर्ण ज्ञान के परिणाम में (विपरीत बोधकत्व), ज्ञात को व्यक्त करना (ज्ञात ज्ञापकत्व), व्यर्थ अर्थ का अभिकथन (अप्रयोजनत्व), बिना उचित निहितार्थ के परिणाम देना (अनभिमत प्रयोजनत्व) असंभवता का कथन (अशक्य साधन प्रतिपाद्य), और सहज उपलब्ध प्रणाली की उपेक्षा करके कठिन या असहज (गुरुतर) प्रणाली को प्रयोग में लाना (लघुपाये सति गुरूपायोपदेश)। मध्व कहते हैं कि समग्रता में वाक्यार्थ शब्दार्थ से अभिन्न हैं। प्रस्थान त्रय के अतिरिक्त, मध्व द्वारा स्वीकृत शब्द प्रमाण चार हैं– *रामायण, महाभारत,* पंचरात्र आगम और ये विभिन्न पुराण जो अंतर्विरोधी न हों। मध्व धर्मग्रंथों के द्वैतवादी कथनों को प्रधान महत्व देते हैं। यह अद्वैतवाची और अंश–समग्र (अंश–अंशी) अवधारणाओं सम्बन्धी कथनों को लक्षणा या व्यञ्जना के रूप में ग्रहण करते हैं। द्वैत विचारधारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य का पठन 'अतत्त्वमसि' के रूप में करती है और स्थापित करती है कि यह महावाक्य स्थापित करता है कि आत्मा ईश्वर पर निर्भर है।

21.8 तत्त्वमीमांसीय अवधारणाएं

मध्व मानते हैं कि तत्त्वमीमांसा सत् को निर्धारित करती है और जो सत् का विरोधी है, यह असत् है। तत्त्वमीमांसा का कार्य है, अयथार्थ (असत्) को यथार्थ (सत्) से पृथक करना। मध्व ने सत् की शर्त के रूप में यथार्थ ज्ञान, देश और काल का सम्बन्ध और व्यावहारिक दक्षता को स्वीकार किया है। इन शर्तों के पालन का परिणाम बहुलतावादी यथार्थवादी तत्त्वमीमांसा है। द्वैत के लिए तत्त्व यह है जो ज्ञेय, अभिधेय और कथनीय हो।

पदार्थ

द्वैत वेदान्त दस पदार्थों को स्वीकार करता है– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, संपूर्ण, शक्ति, सादृश्य और अभाव।

द्रव्य

द्रव्य सकारात्मक श्रेणी है और स्वतंत्र आश्रय है जिस पर आठ सकारात्मक सत्ताएं निर्भर करती हैं। यहां भी, ब्रह्म एकमात्र स्वतंत्र तत्त्व है, जो कि द्रव्यों में से एक है। अन्य सभी तत्त्व (परतंत्रतत्त्व) ब्रह्म पर निर्भर करते हैं। अन्य श्रेणियों का आश्रय होने के कारण द्रव्य अन्य श्रेणियों के सार को अंतर्निहित किये रहता है और निर्मित (संरचित) भी करता है। द्वैतवाद में द्रव्य की बीस श्रेणियां निर्धारित की गई हैं जिनमें ब्रह्म, लक्ष्मी और जीव चेतन हैं और अन्य अचेतन श्रेणियां हैं। अचेतन श्रेणियां हैं– देश, काल, पदार्थ, और इसके आठ उत्पाद हैं– ब्रह्माण्ड, अज्ञान, ध्वनि, अंधकार, मानसिक विकार और प्रतिबिम्ब। यहां हम द्वैतवाद के चेतन द्रव्यों की संक्षेप में व्याख्या करेंगे।

द्वैतवाद में ब्रह्म, ईश्वर, नारायण इत्यादि के रूप में भी जाना जाता है। ईश्वर को परम यथार्थ माना गया है, जो व्यक्तित्व वाला है और जिसमें अनंत गुण हैं। यही संसार का रचयिता और नियंता है। ईश्वर उपासना का विषय है। द्वैतवादी ईश्वर को निर्गुण नहीं मानते हैं, और सगुण ब्रह्म को स्वीकार करते हैं। विश्व का भौतिक कारण ब्रह्म से भिन्न है, और यह भिन्न तत्त्व माया है। द्वैत के अनुसार माया वास्तविक है।

लक्ष्मी द्रव्य का दूसरा प्रकार है जो कि ब्रह्म पर निर्भर है, किंतु जो अन्य समस्त द्रव्यों से स्वतंत्र हैं। यह ब्रह्म की पत्नी हैं, इसलिए ब्रह्म से आंतरिक रूप से जुड़ी हुई हैं। जीव चेतन है और सत्, चित् और आनंद उसके मूल गुण हैं। जीव विशेष नामक विशिष्ट तत्त्व से पृथक रहते हैं। ये आदि और अंत से परे नित्य हैं। जीव को अण्ड के आकार का माना गया है। यह ज्ञाता, कर्ता और फलभोक्ता है। द्वैतवादी जीव को कर्त्ता और भोक्ता की शक्ति धारण करने वाले के रूप में परिभाषित करते हैं। यह शरीर युक्त है किंतु यह शरीर भौतिक शरीर से भिन्न है। यह साक्षी द्वारा 'मैं' के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। सत् के अतिरिक्त चित् और आनन्द के स्तर पर जीव ब्रह्म के समान है किन्तु अपने अस्तित्व, कर्म और ज्ञान के लिए पूर्ण रूप से ब्रह्म पर निर्भर करता है। मध्व कहते हैं कि जीव बिना किसी माध्यम (उपाधि) के ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है (निरूपाधि प्रतिबिम्ब)। द्वैतवाद जीवों की बहुलता और उनके अनंत स्वभाव की यथार्थता को स्थापित करता है। उन्होंने स्वभाव के आधार पर जीवों को तीन श्रेणियों में–जिसे स्वरूप त्रैविध्य के रूप में जाना जाता है– विभाजित किया है। जिन जीवों में सत्त्वगुण का प्राधान्य है ये अच्छे कर्मों में लगे रहते हैं ओर मोक्ष के लिए उपयुक्त होते हैं। इन्हें मुक्तियोग के रूप में वर्गीकृत किया गया है, जैसे कि – दिव्य, सन्त और श्रेष्ठ गुणों से संपन्न व्यक्ति। कुछ जीवों में रजस्गुण की पूर्वप्रधानता होती है। ऐसे जीवों में अच्छाई और बुराई का मिश्रण होता है। ये मोक्ष के लिए उपयुक्त नहीं है। इन्हें सर्वदा सुख और दुख का सामना करना पड़ता है। ये नित्य संसारी अथवा जन्म–मृत्यु के चक्र में फंसे हुए के रूप में जाने जाते हैं। जीवों का तीसरा वर्ग यह है जिसमें *तमस्* गुण की प्रधानता होती है। उन्हें तमोयोग्य के रूप में जाना जाता है। इन्हें नरक के कष्टों को भोगने की सजा मिलती है क्योंकि ये बुरे कर्मों में संलग्न रहते हैं। इस प्रकार द्वैतवाद जीवों की बहुलता और सोपानबद्धता को स्वीकार करता है।

जगत्

द्वैतवाद के लिए ब्रह्माण्ड वास्तविक है क्योंकि यह यथार्थता (सत्) की शर्तों को पूरा करता है। भौतिकजगत् प्रत्यक्ष रूप से जाना जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान का वैध स्रोत है। ब्रह्म विश्व का निमित्त कारण तथा प्रकृति अथवा माया, जो कि ब्रह्म से पूर्णतः भिन्न है, विश्व का भौतिक कारण हैं। ब्रह्म भौतिक जगत् का नियंत्रक है। भौतिक जगत् का कोई भी परिवर्तन ब्रह्म के द्वारा ही होता है और इसलिए ब्रह्म को अगोचर (अनुभव निरपेक्ष) और व्याप्त (अंतर्भूत) दोनों माना जाता है। बहुलतारूपी यह संसार भौतिक जगत् में अव्यक्त स्थिति में है और रूपांतरण उसके द्वारा विभिन्न विशिष्टताओं को ग्रहण करने के द्वारा होता है। इस प्रकार प्रकृति सूक्ष्म से स्थूल को विकसित करती है।

21.9 मोक्ष

द्वैत के अनुसार आत्म की प्रकृति का ज्ञान न होना बंधन का कारण है। जीव ईश्वर से अपने सम्बन्ध के बारे में नहीं जानता। इसे स्वभाव–अज्ञान–वाद के रूप में जाना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्म के वास्तविक स्वरूप, जो स्वतन्त्र ब्रह्म पर निभर होना है, का ज्ञान न होने के कारण बंधन होता है। अज्ञानता की दो शक्ति होती है– पहली यह जीव के ईश्वर पर निर्भर होने के स्वभाव को छिपाती है (जीव आच्छादिक) और दूसरी शक्ति यह छिपाती है कि केवल ईश्वर ही स्वतंत्र है (परमात्मा आच्छादिक)। मोक्ष केवल उन्हीं जीवों को मिलता है जो इस अंतर को अनुभव करते हैं और मृत्यु के बाद ईश्वर (नारायण) के निवास पर पहुँचने के लिए ईश्वर की कृपा प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

द्वैतवाद के अनुसार ईश्वर का साक्षात्कार अथवा अपरोक्ष दर्शन अकेले मोक्ष का समीपवर्ती कारण है। मध्व के अनुसार दैवीय कृपा परम सत्ता की प्राप्ति में केन्द्रीय भूमिका निभाती है। एक वस्तुवादी के रूप में मध्व मानते हैं कि मोक्ष के बाद नारायण निवास में जीव का मृत्यु से बचे रहना आवश्यक है अन्यथा जीव की वैयक्तिकता के नष्ट होने के बाद मोक्ष का आनंद कौन उठाएगा। द्वैतवाद के लिए मोक्ष आत्मनिष्पत्ति, आत्मप्रकाशन और आत्मानुभूति है। आत्मानुभूति में जगत् की बहुलता समाप्त नहीं हो जाती है, बल्कि अलगाव और स्वाधीनता की मिथ्या भावना नष्ट हो जाती है। नारायण के निवास में मोक्ष प्राप्त आत्मा ईश्वर की आंख से सब कुछ देखती है। मोक्ष प्राप्त करने वाले विभिन्न जीव एक समान आनंद का अनुभव नहीं करते हैं। मध्व इसमें भी सोपानबद्धता को बनाये रखते हैं।

परम लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करने के लिए द्वैत दर्शन ने साधनों की एक श्रृंखला बताई है। द्वैतवाद मोक्ष के निम्नलिखित साधनों को महत्वपूर्ण माना है – वैराग्य, भक्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, और साक्षात्कार। इसमें से, ध्यान अथवा निदिध्यासन को साक्षात्कार के लिए प्राथमिक साधन माना जाता है और दूसरे साधन सहायक साधन के रूप में काम करते हैं। मध्व वेदांतसूत्र पर टीका करते हुए गुरु–कृपा की प्राप्ति को मूलभूत महत्व देते हैं। मध्व द्वारा विचारे गये मुक्ति के साधन के विशिष्ट गुण इस प्रकार हैं, दार्शनिक खोज अथवा विचार, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग का अभ्यास, भक्ति और उपासना की प्रभावशीलता, परम साधन के रूप ईश्वर का साक्षात्कार, और परम सत्ता के साक्षात्कार होने पर सम्बद्ध नैतिक मूल्य का ज्ञान। मध्व भक्ति को केवल भावनाओं और भावुकता और की अभिव्यक्ति नहीं मानते, बल्कि इसे ज्ञान और नैतिक पूर्णता का उच्च स्तर स्वीकारते हैं। ये जीवन की शुद्धता अथवा आचार को भक्ति का कुंजीपरक घटक तत्त्व मानते हैं। तीव्रता और समर्पण के आधार पर मध्व तीन प्रकार के भक्तों की बात करते हैं– उत्तम, मध्यम और अधम। यह सोपानबद्धता मध्व के भक्ति सिद्धान्त का आवश्यक घटक है। ये भक्ति को भी तीन स्तरों

पर विभाजित करते हैं– ईश्वर के मध्यस्थ ज्ञान की पूर्ववर्ती, मध्यस्थ ज्ञान, और साक्षात्कार (अपरोक्ष अनुभूति; बिना किसी माध्यम (इन्द्रिय मन आदि के बिना) का सीधा अनुभव) की परवर्ती जहां ईश्वर कृपा प्राप्त हो चुकी है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. द्वैत द्वारा स्वीकृत पदार्थ कौन से हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

21.10 रामानुज

रामानुज (1017 ई.) असुरी केशव सोमयाजी दीक्षितर और कांतिमती के यहाँ तमिलनाडु के पेरुंबदूर में पैदा हुए थे। रामानुज ने नौ ग्रन्थ लिखे जिनमें *वेदान्त–सूत्र* पर प्रसिद्ध संक्षिप्त भाष्य *वेदान्तसार* और *वेदान्त दीपिका* और *भगवद्गीता* पर भाष्य सम्मिलित हैं। उनकी अन्य रचनाएं विशिष्टाद्वैत की अवधारणाओं को स्पष्ट करने वाले स्वतंत्र प्रबंध हैं। ये रचनाएं हैं– *वेदार्थ संग्रह, नित्य ग्रंथ,* और तीन अन्य गद्य रचनाएं हैं जो समर्पण का मुक्ति के साधन के रूप में यशोगान करती हैं। 1137 ई. में 120 साल की वृद्धावस्था में उन्होंने अपना पार्थिव शरीर त्याग दिया और परम सत्ता में विलीन हो गये।

21.11 ज्ञानमीमांसा

विशिष्टाद्वैत के अनुसार, अंतिम सत्ता एक है। किंतु यह निर्गुण सत्ता नहीं है क्योंकि गुण रहित सत्ता प्रत्यक्ष योग्य नहीं है और तर्क द्वारा सिद्ध नहीं है। विशिष्टाद्वैत तीन मूल वास्तविकताओं को स्वीकार करते हैं,जगत् (अचित्), जीव (चित्) और ईश्वर। अंतिम सत् एक है। जगत् और जीव इसके अंग हैं। आमतौर पर विशिष्टाद्वैत शब्द सर्वेश्वरवाद के लिए प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ है कि परमेश्वर संबंद्ध सत्ताओं से भिन्न और स्वतंत्र है और फिर भी सम्पूर्ण की तरह संबंद्ध सत्ताओं को अपने में सम्मिलित रखता है। विशिष्टाद्वैतवादी ज्ञान के तीन साधनों को स्वीकार करते हैं– प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमान। यहाँ हम केवल प्रत्यक्ष और शब्द की चर्चा करेंगे। रामानुज का अनुमान न्याय के अनुमान के समान ही है।

प्रत्यक्ष

एक वस्तुवादी विचारधारा के रूप में विशिष्टाद्वैत प्रत्यक्ष ज्ञान का वर्णन इन्द्रियों के वस्तु से संपर्क से उत्पन्न हुए ज्ञान के रूप में करते हैं। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में, ज्ञान (अर्थ प्रकाश)

होता है जो कि वस्तु (ज्ञेय; जिसका ज्ञान हो रहा है वह विषय या वस्तु), ज्ञाता, ज्ञान के लक्ष्य और ज्ञान के साधन को प्रकट करता है। जीव का ज्ञान मन से होकर विषय के सम्पर्क में आने वाली इन्द्रियों तक प्रवाहित होता है, और तब प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, जैसे यह ज्ञान कि 'यह बर्तन है'। इस प्रणाली में विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं, केवल सगुण वस्तु का ही ज्ञान हो सकता है। निर्गुण वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। विशिष्टाद्वैतवादी यथार्थ से परे किसी सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं।

शब्द / शब्द–प्रमाण

धर्मग्रंथों के कथन अथवा शब्द प्रमाण विशिष्टाद्वैतवादियों द्वारा ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार किये गये हैं। प्राथमिक शास्त्र प्रस्थानत्रय हैं, किंतु, विशिष्टाद्वैतवादियों ने पुराणों और पांचरात्र आगमों को भी समान स्तर के ज्ञान के प्रामाणिक (प्राधिकृत) और वैध स्रोत के रूप में सम्मिलित किया है। पुराण *सात्विक, तामसिक* और *राजसिक* के रूप में वर्गीकृत किये गये हैं। सात्विक पुराण विष्णु की महानता की प्रशंसा करते हैं इसलिए ये ज्ञान के सबसे प्रामाणिक स्रोत के रूप में लिये गये हैं। विशिष्टाद्वैतवादियों के लिए पांचरात्र आगम ईश्वर द्वारा व्यक्त माने जाने के कारण अद्वितीय स्थान रखते हैं। विशिष्टाद्वैतवादियों द्वारा मान्य, शब्द ज्ञान का सिद्धान्त यह सूचित करता है कि शब्दों के पास अपने अर्थ के साथ–साथ गुणों या भेदों को बताने की शक्ति होती है। विषय या वस्तु को निदर्शित (बताने वाली) करने वाली शब्द–शक्ति गुण बताने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह द्रव्य को भी निर्दिष्ट करती है (शब्द वस्तु के न केवल गुण को बल्कि वस्तु के द्रव्य को भी बताता है या निदर्शित करता है)। इसे 'अपर्यवसनवृत्ति' कहते हैं। चित् और अचित् ब्रह्म के अविच्छिन्न (अपृथक) गुण हैं इसलिए प्रत्येक शब्द ब्रह्म को सब वस्तुओं में व्याप्त (अंतर्भूत) रूप में संकेतित करता है। चूंकि, सभी शब्द प्राथमिक रूप से ब्रह्म का संकेत करते हैं, इस अर्थ में, ब्रह्म 'सर्व शब्द वाच्य' के रूप में जाना जाता है। विशिष्टाद्वैतवादी उपमान को स्मृति के तहत स्वीकार करते हैं। उपमान तीन स्रोतों पर आधारित है– प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण और इसलिए यह ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकृत नहीं है। अभाव प्रत्यक्ष के अन्तर्गत् और अर्थापत्ति अनुमान में सम्मिलित है। इस प्रकार, विशिष्टाद्वैतवादियों के अनुसार, ज्ञान के वैध साधन केवल प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण हैं।

बोध प्रश्न 3

ध्यातव्यः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. रामानुज द्वारा स्वीकृत प्रमाण कितने हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

21.12 तत्त्वमीमांसीय अवधारणाएं

विशिष्टाद्वैतवाद सगुण की अवधारणा पर विकसित हुआ और यह तीन तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं पर अवस्थित है: वस्तु और गुण की अवधारणा, सम्बन्ध की अवधारणा और कारण और कार्य की अवधारणा। विशिष्टाद्वैतवादियों के अनुसार कोई निर्गुण वस्तु नहीं हो सकती है।

- पहली अवधारणा 'अपृथकसिद्धि' के सिद्धान्त के आधार पर व्याख्यायित है। गुण द्रव्य से अपृथक है और द्रव्य भी अपने गुणों से अपृथक है।
- द्वितीय अवधारणा सम्बन्ध के बारे में है। सम्बन्ध द्रव्य और गुण तथा द्रव्य और द्रव्य के मध्य होता है। अतः भौतिक शरीर और आत्मा एक–दूसरे से अपृथक सत्ताएं हैं। इसी तरह चित् और अचित् ईश्वर से अपृथक हैं।
- तीसरी अवधारणा कारण और कार्य की है जो इस बात की व्याख्या करती है कि कैसे 'एक' 'अनेक' हो जाता है। कार्य कारण में मौजूद नहीं रहता और न ही यह कारण से भिन्न होता है। दोनों एक एवं समान द्रव्य की भिन्न स्थितियां हैं। यह सत्कार्यवाद का संशोधित सिद्धान्त है।

उक्त तीनों अवधारणाओं के आधार पर विशिष्टाद्वैतवादी तत्त्वमीमांसीय तत्यों की व्याख्या की शुरूआत करते हैं, मोटेतौर पर ये तत्त्वमीमांसीय तत्त्व द्रव्य और अद्रव्य में विभाजित हैं। द्रव्य छह हैं, जड़, और अजड़। अजड़ को आगे स्व–प्रकाशक (प्रत्यक), और पर–प्रकाशक (परक) के रूप में वर्गीकृत किया गया है। जीव और ईश्वर स्व–प्रकाशक द्रव्य हैं और नित्य विभूति और ज्ञान पर–प्रकाशक द्रव्य (परक) हैं। प्रकृति और काल जड़ वस्तुएं हैं। अ–द्रव्य दस हैं, सत्त्व रजस्, तमस्, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध, संयोग और शक्ति। ये प्राथमिक तत्त्वमीमांसीय गुण हैं।

द्रव्य

द्रव्य यह है जो रूपान्तरण के आश्रय का कार्य करता है और रूपान्तरण द्रव्य से अपृथक आकस्मिक गुण है। विशिष्टाद्वैत जीव की एक भिन्न अवधारणा प्रस्तुत करते हैं जो कि ब्रह्म से भिन्न है। यहाँ तक कि मोक्ष प्राप्त होने के बाद भी जीव अपना व्यक्तित्व (जीवत्व) नहीं खोता है। जीवों की संख्या अनंत है और ये अनिवार्यतः ज्ञान–स्वरूप होते हैं। जीव ज्ञाता होता है क्योंकि यह ज्ञान के आश्रय के रूप में काम करता है। ज्ञान संपन्न जीव को आधारभूत ज्ञान (धर्मीज्ञान) कहते हैं, जो स्वयं प्रमाण है, किंतु यह ज्ञान बाह्य वस्तुओं को व्यक्त नहीं करता है। यह ज्ञान उसे जानता है जो उसके सम्मुख व्यक्त होता है। ज्ञान अपने आप में जीव का एक अनिवार्य गुण है, जो कि गुणात्मक ज्ञान (धर्मभूत ज्ञान) के रूप में जाना जाता है। ज्ञान अपने को और बाह्य वस्तुओं को व्यक्त करता है, किंतु उन्हें जानता नहीं है। जीव कर्ता और फल भोक्ता है। यह एक अणु का आयाम है। जीव पंचकोषों से भिन्न है। जीव अनंत है। वेदान्तसूत्र की टीका करते समय रामानुज स्थापित करते हैं कि जीव न तो ब्रह्म से भिन्न है और न अभिन्न किंतु, यह ब्रह्म का अंश है। अंश और पूर्ण (अंशी) सिद्धान्त से तात्पर्य है कि जीव संश्लिष्ट समग्रता के अपरिहार्य गुण हैं।

विशिष्टाद्वैतवाद एक धर्मशास्त्रीय दर्शन है जो परम सत्य को वैयक्तिक ईश्वर, नारायण मानते हैं जिसका व्युत्पत्तिपरक आशय है चित् और अचित् का आधार। ब्रह्म अथवा परम सत्य को विष्णु के रूप में भी जाना जाता है, जिसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ है सर्वव्यापी। रामानुज अपने धर्मशास्त्र की वैधता उपनिषदों और पुराणों से प्राप्त करते हैं। अद्वैतवादियों के द्वारा निर्गुण ब्रह्म को विशिष्टाद्वैतवादियों द्वारा तत्त्वमीमांसीय अमूर्तता मानकर अस्वीकार कर दिया गया। विशिष्टाद्वैतवादियों ने ईश्वर के रूप में ब्रह्म को सगुण माना। ईश्वर अनंत गुणों और महिमा के साथ शरीरी है। जीव के समान शरीरी ब्रह्म कर्म से नहीं बंधा हुआ है, किंतु, यह भक्तों के कल्याण के लिए संकल्प–स्वातन्त्र्य से कार्य करता है। शरीरी ब्रह्म ईश्वर के रूपमें भी जाना जाता है। ईश्वर अनंत और सत्त्व गुणों (शुद्ध सत्त्व) वाला है। ब्रह्म की प्रकृति को पांच भेदक लक्षणों द्वारा निर्धारित किया गया है। ये लक्षण हैं– सत्यम्, ज्ञानम्, अनंतम्, आनन्दम्, और अमलम्। ये लक्षण औपनिषदिक कथनों पर आधारित हैं। विशिष्टाद्वैतवादी ईश्वर में छह गुणों– ज्ञान, शक्ति, प्रभुत्व, पुरुषत्व, अधिकार (शक्ति) ओर वैभव को मानते हैं। विशिष्टाद्वैतवादियों के अनुसार ईश्वर अपने को पांच रूपों में व्यक्त करता है: आनुभविक रूप से पर (अनुभव–निरपेक्षय पर), दैवीय अभिव्यक्ति के रूप में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध (व्यूह), अनेक अवतार (विभव), भक्तों द्वारा निर्मित पदार्थों (मूर्तियों) में प्रवेश करके (अर्चा) और जीवों के हृदय में निवासी के रूप में (अंतर्यामी)। विविध अभिभावों का लक्ष्य है बुराई को पराजित करना और सच्चाई की पुनर्स्थापना।

प्रकृति अथवा आद्य लौकिक द्रव्य एक निष्क्रिय, अंनत और रूपान्तरण वाला द्रव्य है। यह तीन गुणों से युक्त है– सत्त्व, रजस् और तमस्। यह ईश्वर द्वारा नियन्त्रित और अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर निर्भर है। विशिष्टाद्वैतवादियों की विकासवादी प्रक्रिया के अनुसार प्रकृति से तेईस तत्त्व विकसित होते हैं। ये तत्त्व इस प्रकार हैं: महत्, अहंकार, सात्विक अहंकार से उत्पन्न मनस, पांच ज्ञानेन्द्रियां और कर्म, महत् अंहकार से पांच सूक्ष्म उत्पन्न पाँच तन्मात्राएं या सूक्ष्म तत्त्व। रजस् अहंकार तमस् और सात्त्विक की उत्पत्तियों में सहायता करता है। समग्र और स्थूल रूप मे विकास के कुल दो चरण हैं। पहला चरण समष्टि सृष्टि का प्राथमिक विकास तत्त्व माना जाता है और दूसरा चरण भौतिक संसार के विकास का होता है, जहाँ तत्त्व पञ्चीकरण की प्रक्रिया से गुजरते हैं। विशिष्टाद्वैतवादी अद्वैतवादियों के विवर्तवाद को नहीं मानते और विश्व वस्तुता (सत्ता) का समर्थन करते हैं। प्रत्यक्ष विश्व आभास नहीं है, बल्कि यह ब्रह्म का अभिन्न अंग है। कार्य–कारण सम्बन्धी तीसरी तत्त्वमीमांसीय अवधारणा के आधार पर, ब्रह्म चित् और अचित् के साथ सूक्ष्म रूप (अव्यक्त रूप) में कारण है और व्यक्तरूप में कार्य है। रामानुज अद्वैतवादियों द्वारा समर्थित विभ्रम के सिद्धान्त को माया के विरूद्ध सात असंगतियों के आधार पर निरस्त करते हैं। माया के विरूद्ध इन सात असंगतियों की विस्तृत चर्चा श्रीभाष्य में की गई है। रामानुज के अनुसार, सबसे पहले तो माया की प्रकृति ही अंतर्विरोधी है, दूसरा, माया की अव्याख्येय प्रकृति अतार्किक है, तीसरे, माया के इस सिद्धान्त के समर्थन में ज्ञान का कोई साधन नहीं है, चौथा, माया की अवस्थिति का जीव अथवा ब्रह्म के द्वारा भी पता नहीं लगाया जा सकता है, पांचवा, माया का अस्पष्ट स्वभाव अबोधगम्य है, छठवां, वैध (यथार्थ) ज्ञान के द्वारा माया के उन्मूलन की प्रक्रिया अज्ञेय है, और अंत में, माया के विनाश (लय) की अवधारणा ही अतार्किक है।

नित्य विभूति अथवा शुद्ध सत्त्व लौकिक द्रव्य प्रकृति की तुलना में परा विषय है। भौतिक द्रव्य, जिनके तीन गुण होते हैं, के विपरीत यह शुद्ध तत्त्व आध्यात्मिक वस्तु है। यह अभौतिक और निर्जीव है। यह परक् के तहत वर्गीकृत है इसलिए यह समस्त वस्तुओं को प्रकाशित तो करता है लेकिन जानता कुछ नहीं। विशिष्टाद्वैतवादी इसलिये शुद्ध सत्य की

श्रेणी को स्वीकार करते हैं, क्योंकि आगम उन मूर्तियों को प्रतिष्ठित करते हैं और इस प्रकार पूजा स्थल को आध्यात्मिक रूप से पवित्र बनाते हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर का सगुण रूप लौकिक वस्तुओं, जोकि उत्पत्ति और मृत्यु का विषय है, से नहीं बनाया जा सकता, बल्कि यह शुद्ध सत्त्व से बना होता है। जो भी हो, ईश्वर प्रकृति और शुद्धसत्त्व दोनों का नियामक और आधार है।

काल अथवा समय का सिद्धान्त भी निष्क्रिय द्रव्यों में से एक है। काल अनंत है। यह स्वतंत्र और यथार्थ द्रव्य है, किन्तु प्रकृति का हिस्सा नहीं है। यह आदि या अंत के बिना प्रकृति के साथ–साथ अस्तित्व में रहता है। यह ब्रह्म की अधीनता में रहता है और सेंकड, मिनट, घंटों, दिनों इत्यादि के रूप में रूपान्तरण की प्रक्रिया से गुजरता है।

अद्रव्य

सत्व, तमस्, और रजस् प्रकृति के तीन प्राथमिक गुण हैं। सत्त्व प्रकाशयुक्त होता है और आनंद प्रदान करता है। *रजस्* कर्मों का प्रतिनिधित्व करता है और विषाद का जनक है। *तमस्* का अर्थ है जड़ता जो अज्ञानता पैदा करती है। पांच तत्वों – ध्वनि, स्पर्श, दृष्टि, रस और गंध – के गुण अपने तत्सम्बन्धी इन्द्रिय के द्वारा पहचाने जाते हैं। संयोग सम्बन्ध अद्रव्य है जो दो वस्तुओं को एक साथ लाता है। पुरुष और प्रकृति के बीच यह संयोग ही है जिससे ब्रह्मांड की रचना होती है। शरीर और आत्मा संयोग के कारण ही एक साथ होती है। इस सम्बन्ध के कारण ही ब्रह्म घास के तिनके से भिन्न होता है। बुद्धि और बाह्य पदार्थ के बीच संयोग से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। यह सम्बन्ध ईश्वर और काल के जैसे दो सर्वव्यापी द्रव्यों के मध्य सम्बन्ध के रूप में सम्भव होता है।

21.13 मोक्ष

जीव ईश्वर से दूर हो गये हैं और नारायण से नारायण के शरीर के रूप में अपने सम्बन्ध के प्रति अज्ञानी बन गये हैं। शरीर–शरीरी अथवा अंश–अंशी के सम्बन्ध का विस्मरण ही दुख और बंधन की ओर ले जाता है। इस प्रकार मोक्ष आत्म का ज्ञान प्राप्त करना और बैकुण्ठ में ईश्वर का चरणामृत प्राप्त करना है।

विशिष्टाद्वैतयादी मानते हैं कि जीव नित्य व्यक्ति है। मोक्ष की अवस्था में अनंत ज्ञान ओर आनंद के साथ अपनी मूल अवस्था में बना रहता है। इस प्रकार प्रत्येक जीव को नारायण तक पहुंचने के अपने लक्ष्य का अहसास होना चाहिए और मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। विशिष्टाद्वैतयादियों के लिए मोक्ष ईश्वर का निवास प्राप्त करना है। यह केवल बंधनों से मुक्ति नहीं है बल्कि यह व्यक्तित्व को खोये बिना अस्तित्व की उच्चतर लोक में सकारात्मक स्थिति है। मोक्ष–प्राप्त आत्मा (मुक्त आत्मा) सर्वज्ञता प्राप्त करती है और ईश्वर के समान नित्य आनंद का अनुभव करती है। मोक्ष प्राप्ति के बाद जीव के कर्म समाप्त हो जाते हैं और इसलिए इसमें ज्ञान अपनी पूर्णता के साथ व्यक्त होता है। रामानुज अद्वैत द्वारा स्वीकृत जीवनमुक्ति की अवधारणा को स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि ईश्वर का निवास केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है जब व्यक्ति के सभी कर्म समाप्त हो जाएं और शरीर का पतन हो जाए। आकार में अणु रूप होता है (न कि ईश्वर के समान विभु) और रचना, पालन और संहार की शक्ति के सिवाय मोक्ष प्राप्त जीव ईश्वर की सभी पूर्णताओं को प्राप्त करता है।

विशिष्टाद्वैतवाद में जीवों को तीन अवस्थाओं में बांटा गया है– बद्ध, मुक्त और नित्य। बद्ध जो जागतिक बंधनों में बंधा है। ये जीव जो सांसारिक आनंद से विरक्ति विकसित कर लेते हैं, उन्हें मुमुक्ष कहा जाता है। जीव अगर पंच तत्वों की प्रकृति को जानता है तो यह ईश्वर की कृपा से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। पंच तत्त्व (अर्थपंचकम्) आत्मा की प्रकृति ईश्वर से गौण है। ईश्वर प्रकृति ही एकमात्र और परम सत्य है। साध्य (लक्ष्य) की प्रकृति है, ईश्वर की प्राप्ति और उनकी सेवा। ईश्वर की कृपा प्राप्त करने लिए पूर्ण आत्म समर्पण ही साधन की प्रकृति है, और बाधा की प्रकृति है, अर्थपंचकम् की अज्ञानता।

विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार ईश्वर की भक्ति अथवा परम सत्ता के प्रति प्रेमसहित अविरत साधना ही मोक्ष का साधन या उपाय है। भक्ति–धर्म ग्रंथों में निर्धारित वर्ग और जीवन की अवस्थाओं के वर्गीकरण के अनुरूप धार्मिक कर्तव्यों के पूर्ण पालन से उत्पन्न होती है। विशिष्टाद्वैतवादियों के अनुसार भक्ति से पहले कर्म और ज्ञान आता है इसलिए कर्म और ज्ञान भक्ति के सहायक हैं और भक्ति मोक्ष का एकमात्र साधन है। चूंकि विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार भक्ति मोक्ष का एकमात्र साधन है इसलिए यह ईश्वर के प्रति सर्वोत्तम भक्ति अथवा पराभक्ति के विकास की प्रक्रिया को निर्धारित करती है। धर्मग्रंथों के अध्ययन और भक्तों के निकट संसर्ग के कारण किसी व्यक्ति में सबसे पहले ईश्वर के प्रति प्रेम का विकास होता है। इसे सामान्य भक्ति के रूप में जाना जाता है। तत्पश्चात् परिणाम को ईश्वर का प्रसाद स्वीकारते हुए व्यक्ति को कठोरतापूर्वक कर्मयोग का पालन करना चाहिए। ईश्वर की कृपा की प्राप्ति से व्यक्ति वैयक्तिक आत्म की वास्तविक प्रकृति को प्रतिबिम्बित करता है। इसे आत्मानुसंधान के रूप में जाना जाता है। अगला चरण है ईश्वर के सेवक के रूप में स्वयं को जानना, इसे स्वयं का ईश्वर के अंशरूप में जानना अथवा शेषत्व ज्ञान के रूप में जाना जाता है। अगले चरण तक क्रमिक प्रगति, ईश्वर के साथ एकता की अनुभूति है। पराभक्ति यह होती है जिसमें व्यक्ति ईश्वर के दर्शन की उत्कृष्ट अभिलाषा और दृढ़ निश्चय का विकास करता है। प्रपत्ति या ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण की अवधारणा भी मोक्ष का प्रत्यक्ष साधन मानी जाती है। विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार, वास्तव में, भक्ति और प्रपत्ति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं इसलिए ये ईश्वर के चरण प्राप्ति के प्रत्यक्ष साधन का कार्य करती है। फिर भी, दोनों साधन भिन्न और अलग हैं जिनकी आध्यात्मिक विकास में अपनी–अपनी भूमिका है। भक्ति को साधन भक्ति और प्रपत्ति को साध्य भक्ति में माना जाता है इसलिए पहला साधन है और दूसरी साध्य। वास्तव में, बाद के चरण में विशिष्टाद्वैतवाद ने प्रपत्ति पर बल दिया क्योंकि भक्ति मार्ग उच्च स्तरीय गुणवत्ता की मांग करता है, जो बहुत से अन्वेषकों को मोक्ष के मार्ग से दूर कर सकता है। रामानुज ने 'तत्त्वमसि' महावाक्य का निर्वचन इस तरह किया है। महावाक्य में 'तत्' शब्द सम्पूर्ण विश्व या ब्रह्माण्ड को अपने शरीर के रूप में धारण करने वाले ईश्वर को संदर्भित करता है और 'त्वं' शब्द वैयक्तिक प्राणियों (जीव) को अपने शरीर के रूप में धारण करने वाले ईश्वर को संदर्भित करता है। इस प्रकार, अचित् और चित् ईश्वर के गुण (लक्षण) हैं और इन दो शब्दों (तत् एवं त्वं) से व्यक्त हुए हैं। अंत में, क्रिया शब्द (धातु) 'असि' दोनों (ईश्वर और जीव) की तादात्म्यता को व्यक्त करता है।

21.14 सारांश

इस इकाई में हमने शंकर, रामानुज और मध्व के दर्शन की सामान्य समझ को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। हमने ज्ञानमीमांसा के उद्देश्य की चर्चा की और तत्त्वमीमांसीय कोटियों

को परिभाषित एवं परीक्षित किया। मोक्ष उपाय के रूप में ज्ञान की महत्ता का स्वीकरण अद्वैत वेदान्त को अन्य वेदान्त सम्प्रदायों से अलग करता है। रामानुज का लक्ष्य परम के साथ व्यक्तिगत ईश्वरवाद की एकता का प्रयास है। रामानुज के दर्शन को 'विशिष्ट अद्वैत' के रूप में जाना जाता है। मध्व का एकमात्र लक्ष्य ईश्वर की स्वतन्त्र प्रकृति एवं परतन्त्र जीवों की सत्ता की स्थापना है। मध्व के अनुसार, यह परम सत्ता, जोकि नारायण है, के साथ सम्बन्ध को विकसित करने का मार्ग प्रशस्त करता है।

21.15 कुंजी शब्द

अनादि : यह तत्त्व जिसके आरम्भ का निर्धारण काल और देष के माध्यम से नहीं किया जा सकता।

अर्थप्रकाश : विषय की अभिव्यक्ति

ब्रह्मलोक : ब्रह्म द्वारा शासित सातवां स्वर्ग जहां ब्रह्म ज्ञान प्रदान करते हैं, जिसका परिणाम क्रमिक मुक्ति होता है।

धर्मभूत ज्ञान : ज्ञान आत्म का सार गुण (स्वरूपलक्षण)।

शरीर–शरीरी सम्बन्ध : शरीर का आत्म से और चित् और अचित् निर्मित ब्रह्माण्ड का ईश्वर से जैविक सम्बन्ध।

21.16 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

अनन्त, रंगाचार्य एन.एस. *विशिष्टाद्वैतिक ऐपिस्टेमोलॉजी एण्ड डॉक्ट्रिन ऑफ मैटर.* बेंगलोर, 2006.

उपाध्याय, के एन. "शंकर ऑन रीजन, स्क्रिप्चरल ऑथोरिटी एण्ड सेल्फ–नॉलेज." *जर्नल ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी,* 19(1991): 121–132.

चक्रवर्ती, निरोध बरन. *ए डिक्शनरी ऑफ वेदान्त.* केलकट्टा: द रामकृष्ण मिशन इन्स्टीटयूट ऑफ कल्चर, 2003.

धर्मराज, अध्वरीन्द्र. *वेदान्तपरिभाषा,* ट्रान्स्लेटिड बाइ एस एस सूर्यनारायण शास्त्री. मद्रास: द अडयार लायब्रेरी एन्ड रिसर्च सेन्टर, 1984.

नारायण, के. *एन आउट लाईन ऑफ मध्व फिलॉसोफी.* इलाहाबाद: उदयन, 1962.

नागराज राव, पी. *द एपिस्टिमोलॉजी ऑफ द्वैत वेदांत,* वोल्यूम, 107. मद्रास: द अडयार लाइब्रेरी एंड रिसर्च सेंटर, 1976.

पॉटर, कार्ल एच. *इन्साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डियन फिलॉसोफीज,* वो. 3. देल्ही: मोतीलाल बनारसीदास, 2000.

ब्रह्मसूत्र चतुस्सूत्री: *द फर्स्ट फॉर अफॉरिज्म ऑफ ब्रह्मसूत्र अलांग विद् शंकराचार्य'स कमेन्ट्री,* ट्रान्स्लेटिड विद नोट्सम बाइ हर दत्त शर्मा. वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2005.

बाला सुब्रमण्यन, आर. *अद्वैत वैद्वान्त.* मद्रासः यूनिवर्सिटी ऑफ मद्रास, 1976.

मिश्र, गणेश्वर. *लॅंग्वेज, रियल्टी एण्ड एनालिसिसः एस्सेज ऑन इण्डियन फिलॉसोफी,* एडिटिड बाइ जे एन मोहन्ती. ब्रिल एकेडेमी पब्लिशर्स, 1997.

राधाकृष्णन्, एस. *इन्डियन फिलॉसोफी,* योल्यूम 2. न्यू देल्हीः ऑक्सफोर्ड यूनिविर्सिटी प्रेस, 1999.

रामचंद्रन, टी पी. *द्वैत वेदांत.* न्यू देल्हीः अर्नोल्ड–हेनमान, 1976.

शर्मा, बी के एन. *फिलॉसोफी ऑफ श्री मध्वाचार्य.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 2002.

शर्मा, सी.डी. *अ क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* देल्हीः मोतीलाल बनारसी दास, 2003.

सत्प्रकाशानन्द. *द मेथड ऑफ नॉलेज एकॉर्डिंग टु अद्वैत वेदान्त.* कलकत्ताः अद्वैत आश्रम, 2005.

स्वामी कृष्णानन्द. *एन एनालिसिस ऑफ ब्रह्म सूत्र.* ऋषिकेशः अ डियाइन लाइफ सोसायटी, 2000.

श्रीनिवास चारी, एस. एम. *फण्डामेन्टल्स ऑफ विशिष्टाद्वैत वेदान्तः ए स्टडी बेस्ड ऑन वेदान्त देसिकास तत्त्वमुक्तकल्प.* देल्हीः मोतीलाल बनारसी दास, 2004.

हिरियण्णा, एम. *द एसेन्शियल्स ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* देल्हीः मोतीलाल बनारसी दास, 1995.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* अनुवाद– उमाशंकर शर्मा. वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन, 2016.

दासगुप्त, सुरेन्द्र नाथ. *भारतीय दर्शन का इतिहास* (पांच भाग). अनुवाद– कलानाथ शास्त्री एवं सुधीर कुमार. जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1977.

धर्मराजाध्वरीन्द्र. *वेदान्तपरिभाषा.* हिन्दी व्याख्याकार– गजानन शास्त्री मुसलगांवकर. वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन, 2010.

राधाकृष्णन, एस. *भारतीय दर्शन* (दो खण्ड). अनुवाद– नन्दकिशोर गोभिल. दिल्लीः राजपाल एण्ड सन्स, 2015.

शर्मा, चन्द्रधर. *भारतीय दर्शन का आलोचनात्मक सर्वेक्षण.* दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास, 2005.

हिरियण्णा, एम. *भारतीय दर्शन की रूपरेखा.* हिन्दी अनुवाद– गोवर्धन भट्ट आदि दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 1969.

21.17 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. समानाधिकरण्य के द्वितीयक निर्वचन की प्रथम अवस्था है; 'तत्' एवं 'त्वं' और इसलिए दोनों शब्द समान आश्रय को संदर्भित करते हैं। लेकिन शब्दार्थ एक–दूसरे के विपरीत हैं।

बोध प्रश्न 2

1. द्वैत दस पदार्थों की पहचान करता है– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव।

बोध प्रश्न 3

1. विशिष्टाद्वैत तीन प्रमाण स्वीकारता है; प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 22 शैव दर्शन और वैष्णव दर्शन[22]

रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

22.1 परिचय

22.2 शैवमत का उद्भव और विकास

22.3 वैष्णवमत का उद्भव और विकास

22.4 शैवमत के दार्शनिक सम्प्रदाय

22.5 वैष्णवमत के दार्शनिक सम्प्रदाय

22.6 सारांश

22.7 कुंजी शब्द

22.8 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री और संदर्भ

22.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

इस इकाई में छात्र/छात्राओं का परिचय मध्यकालीन धार्मिक दर्शनों– शैवमत और वैष्णवमत से कराया जायेगा। ये दर्शन अपने चरित्र में शास्त्रीय दार्शनिक विचारधाराओं, जिन्होंने शुद्ध, अमूर्त, और अनुमानात्मक दार्शनिक विचार–विमर्शों पर ध्यान केन्द्रित किया था, से हल्के–से–भिन्न हैं। शैव और वैष्णव परम्पराएं व्यावहारिक जीवन और दार्शनिक चिंतन के मेल पर विशेष बल देती हैं। भक्ति आन्दोलन के अंग के रूप में इनका विकास लोकप्रिय दर्शनों के रूप में हुआ। छात्र/छात्राएं इन दार्शनिक परम्पराओं का अध्ययन करेंगे। इन परम्पराओं ने भारतीय जन–मानस में सदियों तक प्रभावशाली उपस्थिति बनाये रखी।

22.1 परिचय

शैवमत ओर वैष्णवमत अनुयायियों की विशाल संख्या के साथ हिंदू आस्था के लोकप्रिय रूप हैं। इन दार्शनिक परम्पराओं में क्रमशः भगवान शिव और भगवान विष्णु की परम सत्ता के रूप में पूजा होती है। तथापि, लोकप्रिय हिंदूवाद में शिव त्रिदेव में से एक हैं, जिनका कार्य है संहार करना, जबकि ब्रह्मा और विष्णु को क्रमशः रचयिता और पालनकर्ता माना गया है। शैवमत और वैष्णवमत दोनों में विविध धार्मिक विश्वास और व्यवहार हैं। उनके विभिन्न सम्प्रदाय पूरे भारत में पाये जाते हैं। ये भारत की प्राचीन आस्थाएं हैं। इन देवताओं के कुछ प्रत्यक्ष और कुछ अप्रत्यक्ष उल्लेख वेदों में भी हुए हैं। तथापि शिव और विष्णु सम्बन्धी वैदिक समझ इतनी विकसित नहीं थी कि ये इन्हें परमेश्वर के रूप में मानते। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के परिणाम स्वरूप ये धार्मिक परम्पराएं धार्मिक वृत्त और दार्शनिक वृत्त दोनों में

[22] डॉ. जॉन पीटर, इग्नू, नई दिल्ली, अनुवाद– डॉ. आनन्द पाण्डे, जे एन यू दिल्ली

विकसित होती हैं। आइए हम शैवमत और वैष्णवमत दोनों के धार्मिक और दार्शनिक पक्षों का विवेचन करें।

22.2 शैवमत का उद्भव और विकास

शैवमत भारत और सम्भवतः सम्पूर्ण विश्व का प्राचीनतम और प्रागैतिहासिक धर्म है। शैवमत केवल इसलिए सराहनीय नहीं है कि यह सबसे प्राचीनतम धर्म है बल्कि इसलिए भी कि आज भी इसका बहुसंख्यक जनता द्वारा पालन किया जाता है। यह धर्म शिव को परम सत्ता के रूप में मानता है। इतिहासकार इसके उद्भव के सूत्र पूर्व वैदिक काल तक पाते हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई के संदर्भ में सर जॉन मार्शल कहते हैं, "इस पृथ्वी अथवा देवी मां के आस–पास मोहनजोदड़ो में एक देवता प्रतीत होता है जिसे ऐतिहासिक शिव के मूल रूप में पहचाना जा सकता है।" वे आगे कहते हैं कि शैवमत का इतिहास कैलोलिथिक काल तक जाता है। यह दुनिया की सबसे प्राचीन जीवित आस्था है। इस बात पर विद्वानों में मतभेद है कि शैवमत वैदिक है अथवा अवैदिक। सर जॉन मार्शल, जी यू पोप, जी स्लाटर, मराईमलाई आदिगल जैसे विद्वान इसके उलट यह मानते हैं कि शैवमत आर्यों और वेदों से पहले का है। वे इसकी उत्पत्ति वैदिक परम्परा से विपरीत द्राविड़ परंपरा से मानते हैं। के. ए. नीलकंठ शास्त्री जैसे विद्वान इससे उलट विचार रखते हैं। वे शैवमत की उत्पत्ति वैदिक परंपरा से मानते हैं।

वैदिक काल के गौण देवताओं में से एक रूद्र को शिव से सम्बद्ध माना गया है। ऋग्वेद में रूद्र की जो विशेषताएं वर्णित की गई हैं उसके अनुसार वे एक वायुमण्डलीय देवता हैं – काफी प्रचंड, संहारक और शारीरिक रूप से आकर्षक। वे पशुबलियों के देवता हैं और तूफान, बिजली और जंगल की आग जैसी प्रकृति की विध्वंसक शक्तियों के साथ संबंद्ध हैं। शिव का उद्भव यजुर्वेद में मिलता है जिसमें उनके सौ नाम हैं। इन नामों में से पशुपति, नीलग्रीव, शितिकंठ जैसे नाम ध्यान देने योग्य हैं। यहां शिव के सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ पक्षों का भी वर्णन किया गया है। इससे आगे *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में शिव को हर, महादेव, ईश, महेश्वर, और भगवत् जैसे नामों से पुकारा गया है। उन्हें 'पर्वतवासी' 'पर्वतपति' सहस्त्र नेत्रवाला और 'जो अकेले स्थिर खड़ा रहता है', जैसे रूपों में वर्णित किया गया है।' *महाभारत* महाकाव्य शिव के एक हजार आठ नामों की चर्चा करता है। यह हिमालय पर्वत के राजा हिमवान की पुत्री उमा से उनके विवाह का भी मिथकीय विवरण देता है। *रामायण* में शिव गंगा की उत्पत्ति से सम्बन्धित हैं। स्वर्गिक गंगा को भगीरथ ने स्वर्ग से धरती पर उतारा लेकिन उससे पहले शंकर ने गंगा को अपनी जटाओं में उसकी उग्रता और वेग को रोकने के लिए धरती पर आने से पहले ही रोक लिया। बाद के पौराणिक साहित्य –जैसे शिव, लिंग, पद्म पुराण में शिव का वर्णन अर्द्धनारीश्वर के रूप में किया गया है। शिव का सत्य के शिक्षक, शांति में ध्यानरत योगी के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। दक्षिण की ओर मुख करके ध्यान करने के कारण उन्हें दक्षिणमूर्ति के रूप में जाना जाता है। ऐसा दावा किया गया है कि उनके ऐसे रूप की उत्पत्ति सिन्धु घाटी सभ्यता से पूर्व प्रागैतिहासिक काल में हुई। शिव को महायोगी, महातपस्वी, यति, तपोनित्या, योगीश्वर के नामों से भी जाना जाता है।

महाकाव्यों और पुराणों में बहुसंख्या में ऐसे उपाख्यान हैं जो असुरों जैसी बुरी शक्तियों के उन्मूलन के प्रसंग पर आधारित हैं। इस प्रकार शिव को संहार अथवा उन्मूलन के देवता के रूप में समझा गया है और इसीलिए उन्हें संहारमूर्ति के रूप में जाना गया है। पौराणिक

साहित्य में शिव के कुछ अन्य उपनामों के प्रसंग हैं। *महाभारत* में उनका वर्णन पशु–चर्म (बाघ या हिरन का) पहने, जटाओं वाले और माथे पर भस्म लगाए हुए, सांप गले में धारण किए हुए, त्रिशूल लिए हुए, बैल की सवारी करने वाले, बुद्धिमत्ता की प्रतीक मस्तक पर तीसरी आंख वाले भगवान के रूप में किया गया है। उनके हाथों में अग्नि, कुल्हाड़ी और डमरू होता है। श्मशान उनका निवास स्थल है और उनका पूरा शरीर भस्म से पुता होता है। दूसरे शक्तिशाली रूप में शिव नटराज हैं। तमिल साहित्य में शिव का गहरा और व्यापक वर्णन है। तमिल देश में उनके कौशल और लोकप्रियता का साक्ष्य प्राचीन संगम साहित्य से लेकर वर्तमान तक का साहित्य प्रस्तुत करता है। शिव ने चौंसठ कलाओं का प्रदर्शन किया है जिनका विस्तृत वर्णन तमिल भक्ति साहित्य में किया गया है। विविध उपनाम, रूप, कर्म, संपत्ति, शस्त्र, आभूषण, वृत्तांत, रूपक उनके व्यक्तित्व और गुणों का वर्णन करते हैं। जिन्हें भक्ति साहित्य में अच्छी तरह से देखा जा सकता है।

जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है, शिव सिन्धु घाटी सभ्यता के युग में भी जाने जाते थे। महत्वपूर्ण मिश्रण तब हुआ जब 'वैदिक रूद्र' देशी शिव के साथ जुड़ गये। श्वेताश्वतर उपनिषद् के समय में शिव वैदिक परंपरा में विलीन हो गये और महादेव के रूप में एक उत्कृष्ट पदवी से विभूषित किये गये। विदेशियों में सबसे पहले मेगस्थनीज ने शिव का वर्णन किया है। गुप्त काल में शिव की पूजा ने अच्छा–खासा महत्व प्राप्त कर लिया था। किंतु, शैवमत का भक्ति आन्दोलन केवल दक्षिण भारत में फला–फूला। यहीं इसने महान श्रेश्ठता अर्जित की।

22.3 वैष्णवमत का उद्भव और विकास

वैष्णव भक्ति परंपरा के उद्भव के कई स्रोत हैं। कुछ विद्वान इसे स्वयं वैदिक परंपरा से आरम्भ मानते हैं। भगवान विष्णु की विविध अवधारणाएं विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में ईश्वर की विभिन्न अवधारणाओं में पाई जाती हैं। ये अवधारणाएं हैं– विष्णु की अवधारणा (तीन मुखों वाले भगवान), जैसा की वेदों में वर्णित है, नारायण की अवधारणा (लौकिक और दार्शनिक भगवान), वासुदेव की अवधारणा (ऐतिहासिक भगवान), और कृष्ण की अवधारणा (गोपाल भगवान)। कुछ लोग मानते हैं कि वेदों में वर्णित विष्णु से वैष्णवमत का उद्भव हुआ है। दूसरों का मानना है कि भागवतम् के उद्भव के बाद यह उत्पन्न हुआ। दक्षिण भारतीय वैष्णवमत के मामले में कुछ की मान्यता है कि दक्षिण में कृष्णमत का आरंभ मदुरै के यादवों के साथ होता है जो यरसनी जन का एक सम्प्रदाय है और जिन्होंने पाण्डय देश पर अपना साम्राज्य कायम कर लिया था। एक अन्य विचार के अनुसार विष्णु मत का आरम्भ प्राचीन तमिल काल में 'मल्लई' क्षेत्र से हुआ होगा, जिसका देवता पेरूमान माना जाता है।

वैष्णवमत 'भगवत्' के नाम से भी जाना जाता है जिसका अर्थ है, भगवत् सम्प्रदाय। यह अपनी आस्था की प्रेरणा भागवत् पुराण, *गीता* और *महाभारत* के 'नारायणीय भाग' से प्राप्त करता है। पांचरात्र और वैकानस आगम वैष्णवमत के धार्मिक साहित्य हैं। पांचरात्र कर्मकांडीय उपासना का साहित्य हैं, जिनमें ईश्वर के ज्ञान, मानसिक संकेन्द्रण, योग, मंदिरों के निर्माण और मूर्ति स्थापना, क्रिया, और प्रतिदिन के धार्मिक कर्मकांड के पालन, और व्यवहारों, कार्यों के निर्धारण का विस्तृत ब्यौरा प्रस्तुत किया गया है।

विष्णु बैकुण्ठ में निवास करते हैं। ये राजगद्दी पर अपनी पत्नी लक्ष्मी या श्री के साथ बैठते हैं। लक्ष्मी धन–सम्पदा और सांसारिक आनन्द की संरक्षिका हैं। विष्णु के पांच रूप हैं–

परा, व्युह, विभव, अंतर्यामी ओर अर्च। परा के रूप में भगवान् छह गुणों से संपन्न हैं– ज्ञान, प्रभुता, सामर्थ्य, शक्ति, सर्वज्ञता और अर्चा। भगवान के चार व्यूह हैं– वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। सृष्टि निर्माण तथा जीवों के उद्धार में प्रत्येक व्यूह के अलग–अलग कर्म निर्धारित किये गये हैं। अपने सांसारिक सरोकारों के लिए ये समय–समय पर अवतार लेते हैं। वैष्णववादी परंपरा के अनुसार अब तक केवल 9 ऐसे अवतार हुए हैं, और एक और होना शेष है। जब–जब संसार अव्यवस्था के संकट में होता है और दुष्टता (अधर्म) द्वारा नष्ट हो रहा होता है तब–तब भगवान अवतार धारण करते हैं। मत्स्य, कच्छप, सुअर (शूकर) इत्यादि अवतार अत्यन्त लोकप्रिय हैं, फिर भी आज इनका धार्मिक महत्व बहुत कम है। इन रूपों में ईश्वर संसार को जल प्लावन से बचाने के लिए पशु के रूप में प्रकट हुए। नरसिंह (मनुष्य–सिंह), और वामन (बौना) के अवतारों में उन्होंने पिशाचों द्वारा विश्व को नष्ट होने से बचाने का काम किया।

मानवीय नायक के रूप में परशुराम उनके अवतार हैं। जिन्होंने आक्रामक और दंभी क्षत्रियों को नष्ट करने के लिए और ब्राह्मणों की सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए अवतार लिया। राम और कृष्ण के अवतार और अधिक महत्वपूर्ण हैं क्योंकि विष्णु की पूजा मुख्य रूप से उत्तर भारत में इन्ही रूपों में होती है। *रामायण* और *महाभारत* जैसे काव्य इन्ही दो अवतारों की महिमा का बखान करते हैं। बुद्ध के रूप में नवें अवतार को मध्यकाल में जोड़ा गया, जो कि आश्चर्यजनक है। कहा गया है कि इस अवतार का उद्देश्य था– पशु बलि को समाप्त करना, किंतु बाद में वेद विरोधी लोगों के उन्मूलन को इसका लक्ष्य माना गया। अन्तिम अवतार कल्कि होगा। ऐसा माना जाता है कि इस अंधकार युग की समाप्ति पर असुरों के विनाश के लिए और स्वर्ण युग (कृत युग या सतयुग) की पुनर्स्थापना के लिए विष्णु एक बार पुनः अवतरित होंगे।

मूर्ति ईश्वर का सबसे सजीव और ठोस रूप है। वैष्णवमत मूर्ति को भगवान के वास्तविक रूप में मानता है। ऐसे माना जाता है कि भगवान मूर्ति में अवतरित होते हैं और उसमें प्राण–प्रतिष्ठा करते हैं ताकि वे भक्तों के लिए सहज–सुलभ रह सकें। मूर्ति की सेवा को भक्त के प्राथमिक कर्तव्य के रूप में महत्व दिया गया है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. शैवमत की उत्पत्ति का संक्षेप में वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2. विष्णु के विभिन्न रूपों की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

22.4 शैवमत के दार्शनिक सम्प्रदाय

ईश्वर की केन्द्रीय अवधारणाः कल्याणकारी के अतिरिक्त शिव के स्वभाव का श्याम और भयानक पक्ष भी है। वैदिक रूद्र की अवधारणा में शिव का वर्णन प्रायः प्रचंड रूपों में किया गया है, जैसे डरावने स्थानों (जैसे श्मशान) में घात लगा के बैठना, सांप की माला धारण करना और रूद्र तांडव, जिससे ये कल्प के अंत में संसार का नाश करते हैं। फिर भी शिव का वर्णन महान तपस्वी, हिमालय की चोटियों पर निरंतर ध्यान मग्न ध्यानी, जटावाले, चंद्रमा युक्त मस्तक वाले जिससे पवित्र गंगा बहती है, के रूप में किया गया है। स्पष्ट रूप से कृषि और चरागाहों के उत्पादक ईश्वर शिव में विलीन हो गये हैं। उन्हें प्रायः पशुओं का स्वामी (पशुपति) तथा पशुओं और मनुष्यों की प्रजनन क्षमता का रक्षक माना जाता है। सामान्य तौर पर उनके लिंग की पूजा की जाती है। कुछ शैव मतों ने उनमें कुछ अप्रशंसनीय गुणों जैसे पशुबलि, मानसिक संताप आदि का भी आरोपण किया है। अधिकांश शैव सम्प्रदाय शिव को प्रेम और अनुग्रह का ईश्वर मानते हैं। तमिल शैववादी साहित्य उनका वर्णन श्रेष्ठ सशक्त नैतिक बल के साथ करते हैं। इस शैवमत में व्यावहारिक स्तर पर शिव की सभी कठोरताएं विलुप्त हो गई हैं। ये सभी जीवितों के करूणामय पिता के रूप में माने जाते हैं जो प्रेम और न्याय देते हैं और बुराइयों से बचाते हैं। शैवमत की बहुत सी धार्मिक और दार्शनिक परम्पराएं हैं। यहाँ हम उनके बारे में संक्षिप्त चर्चाएं करेंगे।

पाशुपत अथवा कापालिक

पाशुपत उत्तर में सर्वाधिक प्राचीन शैववादी परम्परा है। उनमें तपस्वी प्रवृत्तियां अधिक हैं। यद्यपि उनके सिद्धान्त सांख्य और योग दर्शन के निकट प्रतीत होते हैं फिर भी ये उन्हें इन विचारधाराओं से अलग करते हैं। और शैव एकेश्वरवाद पर बल देते हैं। उनके लिए शिव पूर्ण स्वतंत्र हैं और विश्व के निमित कारण हैं। प्रकृति और आत्माएं कार्य हैं। उनका मूल ईश्वर की इच्छा में है। मोक्ष प्राप्त आत्माएं शिव के साहचर्य में नित्य हो जाती हैं। उनके योगाभ्यास एकांत में शिव के निरंतर संपर्क में सम्पन्न होते हैं। इसी कारण से शैववादी श्मशान पर बारम्बार जाते हैं। उनके कर्मकांडीय व्यवहार प्रायः विद्रोही प्रवृत्ति के हैं। अधिक अतिवादी समूह, कापालिक, सांसारिक वस्तुओं से आडंबरपूर्ण अभेद में विश्वास करते हैं। ये दृढ़तापूर्वक मानते हैं कि यह किसी व्यक्ति की भव सागर से मुक्ति का श्रेष्ठ तरीका है। ये मनुष्य की खोपड़ी और मदिरा का कटोरा साथ में रखते हैं। इस घटक के कारण उनकी कापालिक अथवा भैरव के रूप में पूजा की गई है।

कश्मीरी शैवमत (काश्मीर शैवमत)

नौवीं शताब्दी में कश्मीर में शैवमत का एक अद्वैतवादी रूप विकसित हुआ। इस सम्प्रदाय को त्रिकशास्त्र अथवा त्रिक शैववादी के नाम से जाना जाता है। त्रिक के प्राथमिक साहित्य हैं– *सिद्धतंत्र, मालिनीतंत्र और वामतंत्र*। ये साहित्य अपने चरित्र में रहस्योद्घाटक हैं, जिसमें दार्शनिक विचारों की अपेक्षा धर्मशास्त्रीय विचार अधिक हैं। वासुगुप्त पहले व्यक्ति थे जिन्होंने शिवसूत्र में त्रिक दर्शन को व्यवस्थित रूप में व्याख्यायित किया। बाद में इसे सोमानंद, उत्पलदेव, भाष्कराचार्य, अभिनवगुप्त और क्षेमराज और अन्यों द्वारा विकसित किया गया। कश्मीरी (काश्मीर) शैवमत ईश्वर, आत्मा और द्रव्य के तीन सिद्धांतों के तहत परम सत्ता का वर्णन करता है। अद्वैतवाद से प्रभावित होने के कारण कश्मीरी शैवमत यह शिक्षा देता है कि शिव परम सत्य हैं जिससे सब–कुछ उत्पन्न हुआ है। धर्मशास्त्रीय और नास्तिकतावादी दृष्टिकोण से ये शिव और शक्ति दोनों हैं। परम सत्ता केवल ईश्वर नहीं है बल्कि देवत्व भी है। यद्यपि सत्य केवल एक है, फिर भी इसे दो दृष्टिकोणों से समझा जा सकताहै। त्रिक दर्शन को शैव य शाक्त पक्षों को मिलाते हुए अभिनवगुप्त ने जो दर्शन दिया, यह अद्वैतवादी के साथ–साथ आस्तिकतावादी भी था। अद्वैत सत्य एकमात्र परम सत्य है। जो अलौकिक तथा मन, बुद्धि और वाक् (वाणी या भाषा) से परे है। शिव सम्पूर्ण हैं जैसे स्थिर आकृति में शुद्ध चेतना होती है। गतिशील पक्ष से संपूर्ण सत्ता अपने को शक्ति से विश्व को व्यक्त करती है। व्यक्त संसार माया अथवा अविद्या के कारण नहीं है, बल्कि सत्य है, क्योंकि संपूर्ण सत्ता से अभिन्न है। ब्रह्मांड के रूप में अपने को अभिव्यक्ति करते समय परम सत्ता किसी प्रकार के परिवर्तन, रूपांतरण अथवा विभाजन से नहीं गुजरती है। अभिव्यक्ति की प्रक्रिया परम सत्ता की आत्म चेतना का अपने भीतर प्रतिबिन्बन के माध्यम से होती है। जैसे की दर्पण में होता है। ईश्वर स्वयं सीमित विश्व और सीमित व्यक्ति के रूप में अवतरित होता है। कश्मीरी शैवमत अद्वैत एकेश्वरवाद की तुलना में भौतिक द्रव्य पर अधिक जोर देने का प्रयास है। यह विश्व में जीवन के नकारात्मक दृष्टिकोण को सिरे से नकारता है। तंत्रवाद में गहरी जड़ होने के कारण यह संसार को त्यागने में विश्वास नहीं करता है बल्कि सांसारिकता को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करता है। बंधन ईश्वर की गतिविधि है, जिससे यह अपनी सारभूत प्रकृति को स्पष्ट करता है। मोक्ष कुछ नहीं है, यह ईश्वर के आवश्यक स्वभाव की अभिव्यक्ति है। मोक्ष यह बौद्धिक अनुभव है कि परम सत्ता और वैयक्तिक आत्मा एक समान है। संसार में जीवन का आनंद उठाते हुए मोक्ष का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। त्रिक शैवमत में व्यक्ति के स्वभाव के साथ–साथ उसकी बौद्धिक क्षमता को ध्यान में रखते हुए मुक्ति के अनेक ढंग निर्धारित किये गये हैं। इस शैवमत में भक्ति के लिए भी स्थान है। यह यौगिक दृष्टिकोण को निरस्त करता है जिसके अनुसार, व्यक्ति प्रयास से मोक्ष प्राप्त करता है। आत्म–प्रयास मोक्ष में उतनी ही भूमिका निभाता है, जितनी दैवीय कृपा। यह मानता है कि किसी भी तरह आत्म प्रयास तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक ईश्वर कृपा नहीं प्राप्त हो जाती। शिव की कृपा परम सत्ता की अभिन्न आत्मानुभूति के लिए आवश्यक और पर्याप्त है। कृपा ईश्वर का निःशुल्क उपहार है और किसी के अच्छे कार्यों के परिणाम पर निर्भर करती है। कृपा बिन मांगा निष्काम उपहार है, जो ईश्वर की ओर से अबोध और स्वतः स्फूर्त प्रवाह है। वैयक्तिक आत्म–समर्पण और कृपा दोनों साथ–साथ चलती हैं। और एक दूसरे को सशक्त और दृढ़ बनाती हैं।

वीर शैवमत

वीर शैवमत अथवा लिंगायतमत एक शैवमत के धार्मिक आन्दोलन के रूप में बारहवीं शताब्दी में कर्नाटक के पश्चिमोत्तर भागों में विस्तारित हुआ। लिंगायत मत भी 28 शैव

आगमों पर आधारित हैं। यह परम्परा मानती है कि यह बहुत प्राचीनतम है और पांच तपस्वियों– एकोरामा, पंडिताराध्य, देवना, मरूला और विश्वाराध्य– द्वारा स्थापित की गई थी। ऐसा माना जाता है कि ये तपस्वी शंकर के मस्तक से उत्पन्न हुए थे। बहरहाल, श्री बसवेश्वर को इसका संस्थापक माना जाता है। उन्होंने अपने को परम्परागत हिंदुत्व से अलग कर लिया और पवित्र यज्ञोपवीत संस्कार से इंकार करके इसके निरर्थक कर्मकांडों का उग्रतम विरोध किया। उनके अनुयायी मानते हैं कि ये नंदी के अवतार हैं। यह परम्परा शिव को सर्वोपरि मानती है। इसके अनुसार केवल शिव की ही उपसना करनी चाहिए। वीर शिव पद का अर्थ है दिग्गज शिव। एक छोटे –से लिंग को धातु की डिबिया में गले में पहनना लिंगायतों की भेदक पहचान है। सैद्धांतिक रूप से ये जाति के समस्त भेदों को नकारते हैं और स्त्रियों को पुरुषों के समान स्थान देते हैं। ये कट्टर शाकाहारी होते हैं। और जादू–रहस्य का विरोध करते हैं। लिंगायतों के लिए लिंग अनिवार्य रूप से लिंगोपासना का प्रतीक नहीं है बल्कि यह अग्नि और प्रकाश की एकाग्रता के रूप में माना जाता है, जो व्यक्ति के शरीर और मस्तिष्क को शुद्ध करता है। अग्नि को ये इतना पवित्र मानते हैं कि इसका उपयोग ये अंतिम संस्कार के लिए नहीं करते हैं। फलस्वरूप लिंगायत शवों को जलाने की बजाय दफनाते (मिट्टी में गाड़ना) हैं। शिव की आंतरिक शक्ति सभी जीवों में है, जो उसे दैवीय अभिव्यक्तियों को देखने में सक्षम बनाती है।

शैव सिद्धान्त

शैव सिद्धान्त शैव आगमों, उपनिषदों, 12 तिरुमुराइयों, 14 मीकांत शास्त्रों पर आधारित तमिल शैववादियों में विकसित दर्शन है। सिद्धान्त का अर्थ है स्थापित निष्कर्ष। शैव सिद्धान्त शैव उपासकों के प्रति समावेशी दर्शन है। यह दर्शन दक्षिण भारत में बहुत लोकप्रिय है। शैव सिद्धान्त को आगमांत–आगमों का निष्कर्ष माना जाता है। यद्यपि यह आगम परम्परा से उत्पन्न है किंन्तु यह वेदान्त परम्परा को कभी निरस्त नहीं करती है। इसमें वेदों को सामान्य स्रोत के रूप में लिया गया है। आगम इस दर्शन के विशिष्ट स्रोत हैं। शैव–सिद्धान्त आस्तिकतावादी दर्शन हैं, जिसमें दर्शन और धर्म का समावेश है। बहुतलतावादी यथार्थवादी होने के कारण यह तीन आंतरिक यथार्थों को स्वीकार करता है किसी दर्शन की भांति इसमें भी ईश्वर, द्रव्य और आत्मा के सम्बन्ध को निर्धारित किया गया है। इसने घोषणा की है कि ईश्वर की तरह द्रव्य और आत्मा भी नित्य हैं। परम सत्ता अपने करूणामय रूप के माध्यम से आत्माओं को द्रव्य और तीन धब्बो (मलों), जो उनकी पवित्रता को कलुषित करते हैं, से मुक्त कराने में सदा निरत रहती है। ईश्वर आत्मा अथवा ब्रह्माण्ड के समान नहीं है। यह उनका उपादान कारण भी नहीं है फिर भी यह उनमें निवास करता है और ये उनमें। अद्वैत एकत्व नहीं है, बल्कि अपृथकता है। गुरू से ज्ञान आता है। यद्यपि शिव सभी प्रकार के ज्ञान के स्रोत, व सभी प्रकार की बुद्धिमत्ता और करूणा का मूर्त रूप हैं।

ईश्वर और आत्मा की प्रकृति

शैव सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर अपने मूल स्वभाव में समय और काल की दृष्टि से निर्विकार और अपार है। यह सभी अनुभववादी ज्ञान से परे है। यह अनाम और निर्गुण है। निम्नलिखित 8 गुण ईश्वर के चरित्र की विशेषताएं है– आत्म निर्भरता, निर्मल शरीर, सहज ज्ञान, सर्वज्ञ, आंतरिक रूप से स्वतंत्र, अपरिमित कृपा, अपरिमित शक्ति और अपरिमित आनन्द। अपने मूल रूप में ईश्वर को परा शिवम और उनकी अविच्छिन्न ऊर्जा को पराशक्ति कहा जाता है। ईश्वर अनिर्वचनीय है क्योंकि यह शब्द और उसकी अंतर्वस्तु से परे है। यद्यपि ईश्वर सबसे परे हैं लेकिन यह सबमें व्याप्त हैं, यह सभी में अंतःवासी और अंतःशासक के रूप में अंतर्यामी हैं। यह अपनी अपरिमित दया से आत्माओं की भलाई के लिए विभिन्न रूप धारण

करते हैं। शिव और शक्ति सूर्य और उसकी किरणों की तरह अविच्छिन्न हैं। परम सत्ता की स्थिर स्थिति शिव है और उसकी गतिशील स्थिति शक्ति है। शिव के बिना शक्ति और शक्ति के बिना शिव की कल्पना नहीं की जा सकती। ईश्वर की पत्नी शक्ति उनकी कृपा का मूर्त रूप हैं। अपनी शक्ति के माध्यम से भगवान लौकिक कार्यों– जैसे रचना, पालन, संहार, कृपा, दान, को पूरा करते हैं। इन कार्यों का उद्देश्य आत्माओं को दैहिक और दैविक खुशियां और आनन्द प्रदान करना है। विश्व की रचना आत्माओं को क्रियाओं में संलिप्त करने और अनुभव प्रदान करने के लिए की जाती है, ताकि मूलभूत बुराई आणव समाप्त हो सके। सृष्टि पालन आत्माओं के कर्म–फल का अनुभव कराने के लिए किया जाता है। कर्म–फल का अनुभव लेने के बाद आत्माओं को आराम देने के लिए संहार होता है। आणव के माध्यम से आत्मा दैहिक सुखों को इसकी क्षमता के चुकने तक भोगने के लिए आकर्षित करने का कार्य करता है। सृष्टि निर्माण का उद्देश्य आणव को परिपक्वता प्रदान करना है। ईश्वर आत्माओं पर कृपादृष्टि आणव को परिपक्वता और आध्यात्मिक प्रगति को देखकर ही करता है। ईश्वर आत्माओं को पवित्र करने और उन्हें बुद्धिमत्ता प्रदान करने के लिए गुरु के रूप में प्रकट होता है। ईश्वर को पति कहा जाता है। आत्माएं असीमित संख्या में हैं और आरंभ से ही ये आणव मल के संपर्क में रहती हैं। ये आत्माएं ईश्वर की कृपा से ही अस्तित्व में आती हैं। मलों की प्रचंडता के अनुसार, आत्माएं तीन समूहों में विभाजित की गई हैं– विज्ञान कलस, प्रलय कलस, और सकलस। विज्ञान कलस ये आत्माएं हैं जिनके पास आणव मल होता है। जब आत्माएं दैहिक शरीर, ज्ञानेन्द्रियों, कर्म–वस्तुपरक विश्व, विलास की वस्तुओं के संपर्क में होती हैं तो ये सांसारिक ज्ञान, आनंद और दुख का अनुभव करती हैं। ये पांच विभिन्न परिस्थितियों–जाग्रत् (जागना), स्वप्न (स्वप्न देखना), सुषुप्ति (स्वप्नहीन निद्रा), तुरीय (गहरी निद्रा) और तुरीयातीत (गहरी निद्रा से परे)– से गुजरती हैं। विविध जन्मों और मरणों के माध्यम से आत्मा अपने कर्म–फलों से युक्त हो जाती है और प्रभु कृपा से मोक्ष प्राप्त करती है। ईश्वर के बाद आत्मा को उत्कृष्ट, गरिमामय, और आध्यात्मिक सत्ता, माना जाता है। शैव सिद्धान्त आत्मा की सामर्थ्य में विश्वास करता है। इसमें कुछ निश्चित गुण ईश्वर के समान होते हैं। यह बुद्धिमान सत्ता है लेकिन सर्वज्ञ नहीं है। उसके पास इच्छा शक्ति और अंतर्ज्ञान होता है। यह केवल ईश्वर–कृपा ग्रहण करती है। चूंकि इसमें दैवीयता होती है। इसलिए यह ईश्वर को जान सकती है। भौतिक द्रव्य के पास यह नहीं होती है। बुराई से दूर रहते और अच्छाई करने की इच्छा–शक्ति होने के कारण यह ईश्वर–कृपा की सहायता से मलयुक्त से जीवनमुक्ति की ओर अपने स्तर को उठा सकती है। कुछ सम्प्रदाय आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते हैं। कुछ आत्मा के स्थान पर विभिन्न वस्तुओं को निर्धारित करते हैं। शैव सिद्धान्त ऐसे मतवादों का खंडन करता है और आत्मा की प्रकृति को स्थापित करता है। आत्मा के महत्व को बढ़ाना सृष्टि रचना का उद्देश्य है। शैव सिद्धान्त में आत्मा कर्त्ता एवं भोक्ता है।

बंधन और मोक्ष

पशु का अर्थ है, यह व्यक्ति जो बंधन युक्त है। बंधन पाश है, दोष अथवा अशुद्धि। ये हैं– आणव, कर्म और माया। आणव मुनष्य में मूल दोष हैं आध्यात्मिक अंधकार मनुष्य से संबद्ध सहज मल हैं। माया और कर्म आध्यात्मिक अंधकार के दुष्प्रभावों का सामना करते हैं। आणव जीव की चेतना को छिपाता है, जैसे तांबे का जंग तांबे की चमक को ढक लेता है। आणव की प्रकृति है आत्मा को सक्रिय होने से रोकना। आणव और आत्मा के बीच अनादि सम्बन्ध है। यह उतना ही पुराना है जितना कि जीव। दूसरा बंधन है माया। यह तत्वों का भौतिक कारण है। माया, ब्रह्माण्ड का भौतिक कारण है, सबका आधार, मौलिक कारण, वास्तविक और नित्य है। माया की प्रकृति सूक्ष्म, अप्रत्यक्षणीय, निर्गुण और अनुभव

योग्य होती है। माया मा और या है, यानि संकल्प और क्रमिक विकास। माया सूक्ष्म रूप में है। अभिव्यक्त रूप में तत्त्व माया का क्रमिक विकास है। ईश्वरेच्छा से तत्त्व आत्माओं की रक्षा के लिए उत्पन्न किये जाते हैं। कर्म तीसरा बंधन है। यह गुण–अवगुण और धर्म–अधर्म के रूप में है।

शैव सिद्धान्त मोक्ष के साधन के रूप में सेवा और उपासना पर बल देता है। चरियाई और क्रियाई मार्ग मुक्ति के साधन हैं। ईश्वर –कृपा–प्राप्ति के शक्तिशाली साधन के रूप में सेवा पर काफी बल दिया गया है। योग और ज्ञान अन्य साधन हैं। इन साधनों के निरंतर अभ्यास से आत्मा संतुलित दृष्टिकोण की स्थिति (इरुविनई ओप्पु) प्राप्त करती है, जिससे आत्मा विरोधी स्थिति में न तो चिढ़ती है और न ही समृद्धि की स्थिति में उल्लसित होती है। आत्मा विभिन्न गतिविधियों से संसार में संलिप्तता के माध्यम से कर्मों और आणव को समाप्त करती है और फिर मलपरिपगम की स्थिति में पहुचती हैं। पूर्णता की यात्रा में ईश्वर स्वयं गुरु, प्रत्यक्षकर्ता के रूप में प्रकट होता है और यथार्थ की प्रकृति का निर्देशन करता है। अनुग्रह आत्मा पर पड़ता है। इस प्रकार ईश्वर द्वारा प्रकाशित आत्मा बंधन से मुक्त हो जाती है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. शैव सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताओं की व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

.....

22.5 वैष्णवमत के दार्शनिक सम्प्रदाय

विभिन्न संतों और तपस्वियों के भक्ति आन्दोलनों से संचालित वैष्णवमत धर्म और दर्शन दोनों क्षेत्रों में विकसित हुआ। यहां पर हम कुछ प्रमुख वैष्णव दार्शनिकों के अल्प ज्ञात पक्षों पर चर्चा करेंगे। उनमें से रामानुज और मध्व पर स्वतंत्र अध्याय पहले ही प्रस्तुत किये जा चुके हैं। यहां हम पहले इन दोनों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे और फिर अन्यों की।

वैष्णव दार्शनिकों में महान रामानुज अस्तिकतावादी दार्शनिक थे। उन्होंने घोषणा की कि भक्ति मार्ग मोक्ष की ओर ले जाता है। इसे केवल ईश्वर के प्रति समर्पण–भक्ति के द्वारा अर्जित किया जा सकता है। उपासक भक्ति में यह अनुभव करता है कि यह ईश्वर का अंश है और उस पर पूर्णतः निर्भर है। मोक्ष ईश्वर के ऊपर अपने को पूर्णतः छोड़ देने और उसकी कृपा की विनम्रता पूर्वक प्रतीक्षा करने से मिलता है। परम सत्ता व्यक्तित्व संपन्न है।

रचना ईश्वर के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। उसकी प्रेम करने और प्रेम पाने की आदिम आवश्यकता की अभिव्यक्ति है। वैयक्तिक आत्मा ईश्वर के सार से बनी है। फिर भी पूरी तरह से उसके समान नहीं है। आनंद की चरम स्थिति में यह ईश्वर से जुड़ जाती है। यह कुछ निश्चित जीव की चेतना को बनाये रखती है। यदि आत्मा आत्म–चेतना को खोती है तो यह उसकी वैयक्तिक आत्म के अस्तित्व पर विराम होगा। यह कभी भी मर नहीं सकती है क्योंकि यह दैवीय सार का अंश है और दैवीय नित्यता की सहभागी है। इसलिए, मोक्ष प्राप्त आत्मा ईश्वर के साथ होते हुए भी अलग है। इसलिए रामानुज के दार्शनिक सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैतवाद कहा जाता है। मध्व ने द्वैतवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार ईश्वर, आत्माएं और पदार्थ अनंत काल से भिन्न हैं। मोक्ष ईश्वर में विलीन होना नहीं है, बल्कि उसके निकट पहुचंना है और सदा के लिए ईश्वर की शांत और गंभीर चिंतन की महिमा में निवास करना है। मोक्ष पूर्णतः ईश्वर की कृपा से मिलता है। आत्मा की गहरी भक्ति और कठोर नैतिकता से मोक्ष नहीं मिलता है। ईश्वर की कृपा सही और उपयुक्त आत्मा को दान में मिलती है।

बारहवीं सदी में रामानुज के बाद निम्बार्क आते हैं। संभवतः ये मध्व से पहले के थे। ये कृष्ण के भक्त थे। उन्होंने मथुरा, कृष्ण की जन्म स्थली, में ही अपने जीवन का अधिकांश समय बिताया। उनके लिए ब्रह्म राधा के संगी–साथी गोपाल कृष्ण हैं। उन्होंने *ब्रह्मसूत्र* पर एक संक्षिप्त टीका लिखी है। उनके द्वारा प्रचारित मत को द्वैताद्वैत, एकता में द्वैत, कहा जाता है। उन्होंने भास्कर के मत भेदाभेद को स्वीकार किया। जैसा कि उपनिषदों के कई अंश जो परम सत्ता को अद्वितीय और निर्गुण मानते हैं वहीं ऐसे भी अंश हैं जो परम सत्ता को असंख्य गुणों से संपन्न बताते हैं। अद्वैतवादियों ने माया की अवधारणा और दो स्तरीय यथार्थ के सिद्धान्त– वास्तविक यथार्थ और प्रकट यथार्थ के द्वारा निर्गुण अद्वैत परम सत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। भास्कर का भेदाभेद सिद्धान्त ऐसे ब्रह्म को प्रस्तुत करता है जो असंख्य गुणों से संपन्न है किंतु बिना किसी रूप के है। परम सत्ता के रूप में अपने अस्तित्व को बनाये रखते हुए ब्रह्म अपने आपको द्वैतवादी संसार और परिवर्तन के रूप में रूपांतरित करता है। निम्बार्क के लिए तीन यथार्थ सत्ताएं हैं– ब्रह्म, आत्मा, और द्रव्य। ये समान रूप से नित्य हैं। ब्रह्म नियंत्रक, आत्मा भोक्ता और द्रव्य भोग्य हैं। ब्रह्म स्वतंत्र सत्ता है, जबकि आत्मा और द्रव्य परतंत्र वास्तविकताएं है। उनके बीच का सम्बन्ध स्वाभाविक भेद और अभेद है (स्वाभाविकभेदाभेद)। आत्माएं द्रव्य से भिन्न हैं, क्योंकि उनका परतंत्र और भिन्न अस्तित्व है। (परतंत्रसत्ताभाव)। विभिन्न में एकता के सम्बन्ध को कारण–कार्य सम्बन्ध, अंश–अंशी सम्बन्ध के आधार पर समझा जा सकता है। जैसा कि बर्तन मिट्टी से भिन्न और अभिन्न दोनों है। आत्माएं और द्रव्य ब्रह्म से संबद्ध हैं। मोक्ष की स्थिति में आत्मा अपने व्यक्तित्व को नहीं खोती है। इस स्थिति में आत्मा केवल ईश्वर से अपनी समानता का अनुभव करती है। मोक्ष कर्म, ज्ञान, उपासना, प्रपत्ति और गुरूपसत्ति के द्वारा प्राप्त किया जाता है। ईश्वर का प्रेम ही मोक्ष का साधन है। ईश्वर का प्रेम केवल ईश्वर की महानता की पहचान (ऐश्वर्य प्रधान भक्ति) नहीं बल्कि उनकी अपरिमित मधुरता (माधुर्य प्रधान भक्ति) पर आधारित होता है। निम्बार्क के अनुसार, मोक्ष मृत्यु के बाद प्राप्त होता है, शरीर जीवित रहते नहीं।

बनारस में पैदा हुए वल्लभ (1479–1531) एक महत्वपूर्ण संत और दार्शनिक थे। इन्होंने वैष्णव भक्ति आन्दोलन को बहुत लोकप्रिय बनाया और स्थापित किया कि मोक्ष कृष्ण के प्रति भक्ति से ही संभव है। उनकी कई रचनाओं में से सुबोधिनी और सिद्धान्त रहस्य बहुत लोकप्रिय हुई। उनके अनुसार गोपाल–कृष्ण परम ब्रह्म हैं। ब्रह्म और संसार के

बीच सम्बन्ध शुद्धाद्वैत का है। उनका मतवाद शुद्धाद्वैतवाद के रूप में स्वीकार्य है जो कि शंकर के केवलाद्वैत से भिन्न है। उनके अनुसार शंकर का मत अशुद्ध है क्योंकि विश्व की व्याख्या के लिए यह माया–विभ्रम के सिद्धान्त – पर निर्भर है। परम सत्ता उपनिषदों में ब्रह्म और *गीता* में परमात्मा के रूप में जानी जाती है। ये श्रेष्ठ व्यक्ति हैं– पुरूषोत्तम हैं। यह सच्चिदानन्द है। उनमें सभी गुणों हैं। ये नित्य और अपरिवर्तनशील हैं। फिर भी माया शक्ति के द्वारा सब–कुछ हो जाता है। इसलिए ये संसार से भिन्न नहीं हैं। आत्माएं उन्हीं के द्वारा बनाई और नष्ट की जाती हैं। वल्लभ के लिए परम ब्रह्म अंतर्यामी और अक्षर के रूप में स्वयं को प्रकट करता है। ये अंतर्यामी के रूप में आत्माओं में सीमित आनंद के साथ निवास करते हैं। ज्ञानी अपने लक्ष्य को पाने के लिए 'अक्षर' ध्यान लगाते हैं। आत्मा ब्रह्म का अंश और नित्य है। जैसे आग से ज्वाला निकलती है वैसे ही आत्माएं ब्रह्म से उत्पन्न होती हैं।

आत्माएं ज्ञाता, प्रतिनिधि और भोक्ता होती हैं। उनमें सत् और चित् अभिव्यक्त होते हैं और आनंद अविकसित बना रहता है। तीन प्रकार की आत्माएं होती हैं। प्रवाह (जो संसार सागर में प्रवाहित होती रहती है), मर्यादा (जो वैदिक मार्ग पर चलती हैं) और पुष्टि (जो ईश्वर की उपासना ईश्वर–कृपा और विशुद्ध प्रेम से करते हैं)। संसार मिथ्या या विभ्रम नहीं है। यह ब्रह्म से अभिन्न (अभेद) है। विश्व ब्रह्म का रूपांतरण है जिसमें सत् के तत्त्व अभिव्यक्ति होते हैं जबकि अन्य तत्त्व चित् और आनंद अविकसित बने रहते हैं। जीव का 'मैं और मेरा' का बोध अवास्तविक हैं, जिसे ज्ञान के द्वारा नष्ट किया जा सकता है।

बंगाल के सबसे सम्मानित और लोकप्रिय सुधारक चैतन्य वल्लभ के समकालीन थे। इन्होंने कीर्तन अथवा भक्ति गीतों के माध्यम से कृष्ण भक्ति का प्रचार किया। इन्होंने राधा–कृष्ण के प्रेममय भक्ति गीतों को लोकप्रिय बनाया। चैतन्य के लिए सत्–चित्–आनंद के रूप में ब्रह्म केवल अभेदहीन सत्ता नहीं है। उनके पास अपरिमित शक्तियां हैं। मुख्य शक्तियां– स्वरूपा शक्ति, माया शक्ति और जीवन शक्ति हैं। आत्म–शक्ति या स्वरूपा शक्ति उनमें निहित होती है। यही शक्ति सभी लीलाओं के लिए जिम्मेवार है। माया शक्ति ईश्वर की शक्ति है जो भौतिक संसार के लिए जिम्मेवार है माया शक्ति बाह्य शक्ति है जिसके दो पक्ष हैं– लौकिक (गुणोमय माया) और वैयक्तिक (जीव–माया)। ईश्वर लौकिक शक्ति द्वारा सत्त्व, *रजस्*, *तमस्* से ब्रह्मांड की रचना करता है। वैयक्तिक शक्ति द्वारा यह जीवों को आत्म–प्रकृति को विस्मृत कराकर हर्ष–विषाद का भोक्ता बनाता है। जीवन शक्ति परिमित आत्माओं के सार का निर्माण करती है और अन्य दोनों शक्तियों के मध्य में स्थित रहती है। ईश्वर रस और रसिक दोनों हैं। उनकी शक्ति राधा हैं जिनके साथ प्रेम में वे एकमेव रहते हैं। ये एक में दो हैं और अविच्छिन्न रूप से एक दूसरे से बंधे हुए हैं। अंतर्यामी ब्रह्म ईश्वर का एक पक्ष है और पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। निर्विशेष ब्रह्म परम सत्ता निम्न पक्ष है जो कि भेद हीन सत्ता और चैतन्य के लिए भक्ति मार्ग ज्ञान और योग से श्रेष्ठ मार्ग है। भक्ति की पराकाष्ठा पूर्ण आत्मदान है, ईश्वर के प्रति शर्तरहित समर्पण है। 'केवला भक्ति' साधन मात्र नहीं है यह मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य भी है। यह पांचवा पुरूषार्थ है। यह मोक्ष के भी परे है। इसकी अनुभूति जिसे होती है, वह केवल कृष्ण की विशिष्ट सेवा करना चाहता है। आत्मा, जगत् और ईश्वर के बीच सम्बन्ध औचित्य भेदाभेद का है। यह सम्बन्ध कारण–कार्य, अंश–अंशी शक्ति का है। यह सम्बन्ध एक ही समय भेद और अभेद दोनों है।

बोध प्रश्न 3

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. निम्बार्क की ईश्वर की अवधारणा की व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2. चैतन्य के वैष्णव दर्शन पर टिप्पणी लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

22.6 सारांश

शैवमत और वैष्णवमत भारत में लोकप्रिय धार्मिक और दार्शनिक परम्पराएं हैं जो मध्य काल में बहुत लोकप्रिय हुईं। इन्होंने व्यावहारिक जीवन को दार्शनिक विचार के साथ जीने की परम्परा विकसित की। दोनों परम्पराओं में प्रत्येक के अपने भगवान हैं क्रमशः शिव और विष्णु उनके परमेश्वर हैं। पूरे भारत में फैले होने के नाते उनमें ईश्वर, आत्मा और जगत् सम्बन्धी विभिन्न दार्शनिक अवधारणाओं के साथ कई सम्प्रदाय हैं। फिर भी ये प्रेम और भक्ति के सूत्र में बंधे हुए हैं। दोनों धार्मिक परम्पराएं हैं। कुछ लोग मानते हैं कि वैदिक रूद्र ही बाद में चलकर शिव के रूप में विकसित हुए। पाशुपत, काश्मीर शैवमत, वीर शैवमत, और शैव सिद्धान्त इस सम्प्रदाय के प्रमुख उप सम्प्रदाय हैं। इसी तरह से, वैष्णव धार्मिक परंपरा भी बहुत पुरानी है। इसमें विष्णु परमेश्वर माने जाते हैं। विष्णु के पांच महत्वपूर्ण रूप हैं जिनके द्वारा वे स्वयं को भक्तों के सामने प्रकट करते हैं। वैष्णवमत के कई उप सम्प्रदाय हैं। इसमें भक्ति के प्रखर रूप मिलते हैं। भक्ति का दर्शन विभिन्न उप संप्रदायों में बहुत अच्छी तरह से विकसित हुआ है। इसमें कई महत्वपूर्ण संत और दार्शनिक हुए है। जिनमें रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क और चैतन्य आदि प्रमुख हैं। इन दार्शनिकों के विचारों की व्याख्या हमने की है। अंत में, हम यह कह सकते हैं कि ये व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं के लिए उपयोगी धार्मिक दर्शन हैं।

22.7 कुंजी शब्द

तुरीय : गहनतम निद्रा

प्रपत्ति : स्व–समर्पण

22.8 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

अरूलसामी, एस. *रिलीजन फॉर अ न्यू सोसाइटी.* देल्ही: आईएसपीसीके, 2000.

ईश्वरन, के. *रिलीजन एंड द सोसाइटी अमंग द लिंगायत्स ऑफ साउथ इंडिया.* न्यू देल्ही: विकास पब्लिशिंग हाउस, 1983.

कण्डास्वामी, एस.एन. *तमिल लिटरेचर एण्ड इंडियन फिलॉसोफी.* चेन्नई: इन्टरनेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ तमिल स्टडीज, 2001.

कपूर, सुबोध. *अ शॉर्ट इन्ट्रोडक्शन टू शैविज्म.* न्यू देल्ही: इंडिगो बुक्स, 2002.

कार्पोटर, जे. एस्टलीन. *थीइज्म इन मिडिवल इंडिया.* न्यू देल्ही: ओरियन्टल बुक्स, 1977.

चितोगोपोकर, नीलिमा. *एनकाउन्टरिंग शैविज्म: द डेइटी, मिथ्यू, द इनटोरेज.* न्यू देल्ही: मुंशीराम मनोहरलाल, 1998.

जोसेफ, थी एस जार्ज. *सेन्ट्रलिटी ऑफ सेल्फ इन शैव सिद्धान्त.* बैंग्लोर: एटीसी, 2009.

डुनुविला, रोहन ए. *शैव सिद्धान्त थ्योरि.* देल्ही: मोतीलाल बनारसीदास, 1985.

देसाई, पीबी. *बसवेश्वर एण्ड हिज टाइम्स.* धारवाड़: कर्नाटक विश्वविद्यालय, 1968.

देवसेनापति, थी ए. *शैव सिद्धान्त.* मद्रास: मद्रास विश्वविद्यालय, 1974.

पाण्डेय, के.सी. *ऐन आउटलाइन ऑफ हिस्ट्री ऑफ फिलॉसोफी.* न्यू देल्ही: मातीलाल बनारसीदास, 1986.

परनजोति, थी. *शैव सिद्धान्त.* लंदन: लुजाक एण्ड कंपनी लिमिटेड, 1954.

पंडित मोती लाल. *एन इन्ट्रोडक्शन टू द फिलॉसोफी ऑफ त्रिक शैविज्म.* न्यू देल्ही: मुंषीराम मनोहरलाल, 2007.

पार्थसारथी, इंदिरा. *वैष्णविज्म इन तमिल लिटरेचर: बिटवीन द सेवेंथ एण्ड एट्थ सेंचुरीज.* चेन्नई: इन्टरनेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ तमिल स्टडीज, 2002.

भट्टाचार्य, एन एन. *मिडिवल भक्ति मूवमेन्ट इन इंडिया.* न्यू देल्ही: मुंशीराम मनोहरलाल, 1999.

विजयलक्ष्मी, आर. एन. *इन्ट्रोडक्शन टू रिलीजन एण्ड फिलॉसोफी, तेवरम एण्ड तिव्व्यप्पिरपन्तम.* चेन्नई: इन्टरनेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ तमिल स्टडीज, 2001.

शास्त्री के. ए. नीलकण्ठ. *डेवेलपमेंट ऑफ रिलीजन इन साउथ इंडिया.* न्यू देल्ही: मुंशीराम मनोहरलाल, 1992.

शर्मा, कृष्ण. *भक्ति ऐंड भक्ति मूवमेंट.* न्यू देल्ही: मुंशीराम मनोहरलाल, 2002.

सिद्धांलिगैयाह, टीबी. *शैव सिद्धान्त इन हिस्टोरिकल परस्पेक्टिव.* चेन्नईः उमा रामजी ट्रस्ट, 2004.

सिवारमन, के. *शैविज्म इन फिलॉसोफिकल परस्पेक्टिव.* न्यू देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1973.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

दासगुप्त, सुरेन्द्र नाथ. *भारतीय दर्शन का इतिहास* (पांच भाग). अनुवाद– कलानाथ शास्त्री एवं सुधीर कुमार. जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1977.

राधाकृष्णन, एस. *भारतीय दर्शन* (दो खण्ड). अनुवाद– नन्दकिशोर गोभिल. दिल्लीः राजपाल एण्ड सन्स, 2015.

शर्मा, चन्द्रधर. *भारतीय दर्शन का आलोचनात्मक सर्वेक्षण.* दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास, 2005.

हिरियण्णा, एम. *भारतीय दर्शन की रूपरेखा.* हिन्दी अनुवाद– गोपबंन भट्ट आदि दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 1969.

22.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. शैवमत का उद्भवः शैवमत भारत और संभवत पूरी दुनिया का प्राचीनतम और प्रागैतिहासिक धर्म है। शिव को वैदिक देवता रूद्र से जोड़ा जाता है। वेदों में शिव के समान देवता का उल्लेख हुआ है। बाद में शिव की अवधारणा का विकास हुआ। ऐसा भी माना जाता है कि शैवमत अवैदिक परंपरा पर आधारित है। शिव का सम्बन्ध सिन्धु घाटी सभ्यता से भी जोड़ा जाता है। इनका संगम तब हुआ जब वैदिक रूद्र देशी शिव के साथ मिल–जुल गये और दोनों को एक ही मान लिया गया। विदेशियों में सबसे पहले मेगस्थनीज ने शिव का उल्लेख किया। गुप्तकाल में शिव की उपासना महत्वपूर्ण बन चुकी थी। शिव का विकास और उनका हिन्दू परंपरा में एक शक्तिशाली ईश्वर के रूप में समावेश के प्रमाण वैदिक, पौराणिक और तमिल संगम साहित्य से मिलते हैं। हिन्दु धर्म के विकास के बाद के चरण में शिव त्रिदेव में एक माने गये जो संहार करते हैं।

2. विष्णु के विविध रूपः विष्णु के पांच रूप हैं– परा, व्युह, विभव, अंतर्यामी और अर्च। परा के रूप में भगवान छह गुणों से संपन्न होता है– ज्ञान, प्रभुता, प्रभविष्णुता, शक्ति, सर्वज्ञता और वैभव। भगवान के चार व्यूह हैं– वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, और अनिरुद्ध । प्रत्येक व्युह के अलग–अलग कर्म निर्धारित किये गये हैं। अपने सांसारिक सरोकारों के लिए ये समय–समय पर अवतार लेते हैं। वैष्णववादी परंपरा के अनुसार अब तक केवल 9 ऐसे अवतार हुए हैं, एक और होना शेष है। विष्णु संसार और प्राणियों के दिलों में बसते हैं। मूर्ति भगवान का सबसे ठोस और सजीव रूप है। वैष्णवमत विष्णु की मूर्ति को वास्तविक विष्णु के रूप में मानते हैं। मूर्ति उन्हें सजीव बनाती है और भक्तों के लिए सदा सहज सुलभ भी। मूर्ति की सेवा भक्त का प्राथमिक कर्तव्य है।

बोध प्रश्न 2

1. शैव सिद्धान्त के लक्षणः यह तीन यथार्थ सिद्धांतों को मानता है। उनमें ईश्वर स्वतंत्र, बुद्धिमान ओर परम आनंद है। अन्य हैं– ब्रह्माण्ड और आत्माएं। ब्रह्मांड और आत्माएं अपने अस्तित्व के लिए भगवान शिव पर निर्भर हैं। सृजन का मुख्य लक्ष्य है अनादि आत्माओं की मुक्ति। आत्मा को पशु के रूपक में समझाया गया है। पाश्यू के नाक में नकेल लगी है। ये अशुद्धता, मल और आध्यात्मिक अज्ञान में लिप्त हैं। इसी कारण कर्म के चक्र में फंसे हुए हैं। तथापि यह कर्म प्रक्रिया लाभदायक है क्योंकि इससे ही उसे कर्म से मुक्ति का रास्ता मिलता है। यह कर्म, क्रिया, योग, और ज्ञान की प्रक्रिया का आरम्भिक चरण होती है। ईश्वर इस प्रक्रिया में आत्मा के हित में हस्तक्षेप करने का इच्छुक रहता है। तब यह, शिव, पूर्ण स्वतंत्र आध्यात्मिक मार्गदर्षक के रूप में आता है और आत्मा को अपनी अनुभूति कराता है।

बोध प्रश्न 3

1. निम्बार्क की ईश्वर की अवधारणाः निम्बार्क के लिए राधा पति गोपाल कृष्ण ब्रह्म हैं। ब्रह्म नियंत्रक है, आत्माएं भोक्ता हैं, जबकि पदार्थ भोग्य हैं। ब्रह्म स्वतंत्र सत्ता है जबकि आत्माएं और पदार्थ ईश्वर पर निर्भर हैं। उनके बीच सम्बन्ध स्वाभाविक भेद और अभेद (स्वाभाविक भेदाभेद) का है। आत्माएं और पदार्थ ब्रह्म से भिन्न हैं क्योंकि उनका अपना स्वतंत्र और भिन्न अस्तित्व है। (परतंत्र सत्ताभाव)। ये अभिन्न हैं, क्योंकि उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है (स्वतंत्र सत्ताभाव)। जैसे बर्तन मिट्टी से भिन्न और अभिन्न है वैसे ही आत्माएं और पदार्थ ब्रह्म से सम्बन्धित हैं। मोक्ष की अवस्था में आत्माएं अपनी वैयक्तिकता नहीं खोती हैं। इस अवस्था में आत्माएं केवल यह अनुभव करती हैं कि उनके और ईश्वर के बीच कुछ स्वाभाविक समानताएं हैं। मोक्ष कर्म, ज्ञान, उपासना प्रपत्ति ओर गुरूपसत्ति के प्रति भक्ति से प्राप्त होता है। ईश्वर का प्रेम ही मुक्ति की साधन है।

2. चैतन्य का दर्शनः चैतन्य का दर्शन पूर्णतः धार्मिक और भक्तिपरक है। उनके लिए ईश्वर सत्–चित्–आनंद है। ईश्वर न केवल रस है बल्कि रसिक भी है। उनकी शक्ति राधा है जिनके साथ प्रेम में ये एकमेक हैं। राधा और कृष्ण अविच्छिन्न है। ईश्वर अंतर्यामी और सर्वव्यापी है। यह लीला करता है। भक्ति का मार्ग ज्ञान और योग से श्रेष्ठ है। भक्ति की पराकाष्ठा परमेश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण में है। कैवल्य अथवा शुद्ध भक्ति केवल साधन नहीं है, यह आत्मा का अंतिम लक्ष्य है, यह पांचवा पुरुषार्थ है। यह मोक्ष से भी परे जाती है। इसकी अनुभूति जिसे प्राप्त होती है, यह सभी इच्छाओं से मुक्त हो जाता है, केवल कृष्ण की सेवा ही उसकी एकमात्र इच्छा होती है। चैतन्य के दर्शन को अचिन्त्य भेदाभेद माना जाता है। यह आत्मा और ईश्वर के साथ सम्बन्ध की व्याख्या करता है। आत्माओं और जगत् का सम्बन्ध एक तरफ और इनका ईश्वर के साथ सम्बन्ध दूसरी ओर, दोनों को अचिन्त्यभेदाभेद कहा जाता है। इनका अर्थ हुआ कि उनका सम्बन्ध एक ही साथ भेद और अभेद दोनों का है।

NOTE

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

QR Code-website ignou.ac.in

QR Code – Content App

QR Code – IGNOU Facebook (@Official Page IGNOU)

QR Code Twitter Handel (Official IGNOU)

INSTAGRAM (Official Page IGNOU)

QR Code -e Gyankosh-site

IGNOU SOCIAL MEDIA

QR Code generated for quick access by Students

IGNOU website

eGyankosh

e-Content APP

Facebook (@offical Page IGNOU)

Twitter (@ Offical IGNOU)

Instagram (official page ignou)

Like us, follow-us on the University Facebook Page, Twitter Handle and Instagram

To get regular updates on Placement Drives, Admissions, Examinations etc.

MPDD/IGNOU/P.O. 3K/January, 2021

ISBN: 978-93-90773-69-5